मूक माटी
(महाकाव्य)

मूक माटी
(महाकाव्य)

रचयिता
आचार्य विद्यासागर
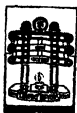
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला . ग्रन्थाक ४६५

मूक माटी
(महाकाव्य)
आचार्य विद्यासागर

पहला सस्करण १९८८

मूल्य ५०/-

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
१८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
लोदी रोड, नयी दिल्ली-११०००३

मुद्रक
नवप्रभात प्रिंटिंग प्रेस,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

MOOK-MAATI (Epic-poem) by Acharya Vidyasagar
Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodi
Road, New Delhi-110003 Printed at Navprabhat Printing Press,
hahdara, Delhi-110032 Ist Edition 1988 Price : Rs 50/-

मूक माटी
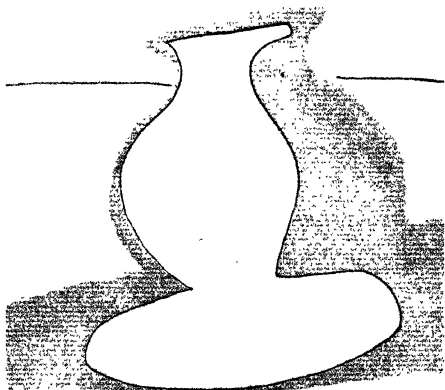
प्रस्तवन

'मूकमाटी' महाकाव्य का सृजन आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। सबसे पहली बात तो यह है कि माटी जैसी अकिंचन, पद-दलित और तुच्छ वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाने की कल्पना ही नितान्त अनोखी है। दूसरी बात यह है कि माटी की तुच्छता मे चरम भव्यता के दर्शन करके उसकी विशुद्धता के उपक्रम को मुक्ति की मगल-यात्रा के रूपक मे ढालना कविता को अध्यात्म के साथ अ-भेद की स्थिति मे पहुँचाना है। इसीलिए आचार्यश्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नही है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का सगीत है – सन्त जो साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं और साधना जो आत्म-विशुद्धि की मजिलो पर सावधानी से पग धरती हुई, लोकमगल को साधती है। यह सन्त तपस्या से अर्जित जीवन-दर्शन को अनुभूति मे रचा-पचा कर सबके हृदय मे गुजरित कर देना चाहते हैं। निर्मल-वाणी और सार्थक संप्रेषण का जो योग इनके प्रवचनो मे प्रस्फुटित होता है—उसमे मुक्त छन्द का प्रवाह और काव्यानुभूति की अतरग लय समन्वित करके आचार्य-श्री ने इसे काव्य का रूप दिया है।

प्रारम्भ मे ही यह प्रश्न उठाना अप्रासगिक न होगा कि 'मूकमाटी' को महा-काव्य कहे या खण्ड-काव्य या मात्र काव्य। महाकाव्य की परम्परागत परिभाषा के चौखटे मे जडना सम्भव नही है, किन्तु यदि विचार करे कि चार खण्डो मे विभाजित यह काव्य लगभग 500 पृष्ठो मे समाहित है, तो परिमाण की दृष्टि से यह महाकाव्य की सीमाओ को छूता है। पहला पृष्ठ खोलते ही महाकाव्य के अनुरूप प्राकृतिक परिदृश्य मुखर हो जाता है :

सीमातीत शून्य में नीलिमा बिछाई
और इधर नीचे नीरवता छाई।
× × × ×
भानु की निद्रा टूट तो गई है परन्तु अभी वह
लेटा है माँ की मृदु गोद में···
प्राची के अधरों पर मन्द मधुरिम मुस्कान है··

इसी संदर्भ में कुमुदिनी, कमलिनी, चाँद, तारे, सुगन्ध पवन, सरिता-तट ···और

> **सरिता-तट की माटी**
> **अपना हृदय खोलती है माँ धरती के सम्मुख**

यह सारा प्राकृतिक परिदृश्य इस बिन्दु पर आकर एक मूलभूत दार्शनिक प्रश्न पर केन्द्रित हो जाता है :

> **इस पर्याय की इति कब होगी**
> **बता दो माँ इसे।···**
> **कुछ उपाय करो, माँ। खुद अपाय हरो माँ!**
> **और सुनो, विलम्ब मत करो।**
> **पद दो, पथ दो, पाथेय भी दो, माँ।**

माटी की वेदना-व्यथा इससे पहले की बीस-तीस पंक्तियो मे इतनी तीव्रता और मार्मिकता से व्यक्त हुई है, कि करुणा साकार हो जाती है। माँ-बेटी का वार्तालाप क्षण-क्षण मे सरिता की धारा के समान अचानक नया मोड़ लेता जाता है और दार्शनिक चिन्तन मुखर हो जाता है। प्रत्येक तथ्य तत्त्व-दर्शन की उद्भावना मे अपनी सार्थकता पाता है। 'मूकमाटी' की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इस पद्धति से जीवन-दर्शन परिभाषित होता जाता है। दूसरी बात यह कि यह दर्शन आरोपित नही लगता, अपने प्रसंग और परिवेश मे से उद्घाटित होता है।

महाकाव्य की अपेक्षाओ के अनुरूप, प्राकृतिक परिवेश के अतिरिक्त, मूकमाटी मे सृजन के अन्य पक्ष भी समाहित हैं। इस सन्दर्भ मे सोचें तो प्रश्न होगा कि मूकमाटी का नायक कौन है, नायिका कौन है? बहुत ही रोचक प्रश्न है, क्योंकि इसका उत्तर केवल अनेकान्त दृष्टि से ही सम्भव है। माटी तो नायिका है ही, कुम्भकार को नायक मान सकते हैं···किन्तु यह दृष्टि लौकिक अर्थ मे घटित नहीं होती। यहाँ रोमास यदि है तो आध्यात्मिक प्रकार का है। कितनी प्रतीक्षा रही है माटी को कुम्भकार की, युगों-युगो से, कि वह उद्धार करके अव्यक्त सत्ता मे से घट की मगल-मूर्ति उद्घाटित करेगा। मंगल-घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है जो काव्य के पात्र, भक्त सेठ, की श्रद्धा के आधार हैं।

> **शरण चरण हैं आपके तारण-तरण जहाज।**
> **भव-दधि तट तक ले चलो करुणा कर गुरुराज॥**

काव्य के नायक तो यही गुरु हैं किन्तु स्वयं गुरु के लिए अन्तिम नायक हैं अर्हन्त देव :

जो मोह से मुक्त हो जीते हैं
राग-रोष से रीते हैं
जनम-मरण-जरा-जीर्णता जिन्हें छू नहीं सकते अब···
सप्त भय से मुक्त, अभय-निधान वे;
निद्रा-तन्द्रा जिन्हें घेरती नहीं
शोक से शून्य, सदा अशोक हैं।
जिनके पास संग है न संघ,
जो एकाकी हैं
सदा-सर्वथा निश्चिन्त हैं
अष्टादश दोषों से दूर।

काव्य की दृष्टि से मूकमाटी मे शब्दालंकार और अर्थालंकारों की छटा नये सन्दर्भो मे मोहक है। कवि के लिए अतिशय आकर्षण है शब्द का, जिसका प्रचलित अर्थ मे उपयोग करके वह उसकी सगठना को व्याकरण की सान पर चढाकर नयी-नयी धार देते हैं, नयी-नयी परतें उघाड़ते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति उसके अन्तरग अर्थ की झाँकी तो देती ही है, हमे उसके माध्यम से अर्थ के अनूठे और अछूते आयामो का दर्शन होता है। काव्य मे से ऐसे कम-से-कम पचास उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं यदि हम कवि की अर्थान्वेषिणी दृष्टि ही नही उसके इस चमत्कार का भी ध्यान करे, जहाँ शब्द की ध्वनि अनेक साम्यों की प्रतिध्वनि मे अर्थान्तरित होती है। उदाहरण के लिए :

युग के आदि में इसका नामकरण हुआ है कुम्भकार।
'कु' यानी धरती
और 'भ' यानी भाग्य।
यहाँ पर जो भाग्यवान
भाग्य-विधाता हो
कुम्भकार कहलाता है।

भावना भाता हुआ गधा भगवान से प्रार्थना करता है कि :

मेरा नाम सार्थक हो प्रभो!
यानी
'गद्' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक—
मैं सबके रोगों का हन्ता बनूं, बस।

× × ×

राही बनना हो तो हीरा बनना है
स्वयं राही शब्द ही विलोम रूप से कह रहा है—
रा··ही हो···रा
× × ×
तन और मन को तप की आग मे तपा-तपाकर
जला-जलाकर राख करना होगा।
तभी कहीं चेतन आत्मा खरा उतरेगा।
खरा शब्द ही विलोम रूप से कह रहा,
राख बने बिना खरा दर्शन कहाँ ?
रा···ख···ख ··रा···

इसी प्रकार की शब्द-साधना से आन्तरिक अर्थ प्रकट हुए हैं—नारी, सुता, दुहिता, कुमारी, स्त्री, अबला आदि के।

यहाँ इंगित किया जा सकता है कि आचार्य-कवि ने महिलाओं के प्रति आदर और आस्था के भाव प्रकट किये हैं। उनके शान्त, संयत रूप की शालीनता को सराहा है।

'मूक माटी' मे कविता का अन्तरग स्वरूप प्रतिबिंबित है और साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तो का दिग्दर्शन है। उद्धरण देने लगें तो कोई अन्त नही, क्योंकि वास्तव मे काव्य का अधिकांश उद्धरणीय है जो कृति का अद्भुत गुण है। कवि की उक्ति है :

शिल्पी के शिल्पक-साँचे में
साहित्य शब्द ढलता-सा !
"हित से जो युक्त-समन्वित होता है
वह सहित माना है
और
सहित का भाव ही
साहित्य बाना है।
अर्थ यह हुआ कि
जिसके अवलोकन से
सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है,
अन्यथा
सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह
सार-शून्य शब्द-झुण्ड···।

'मूक माटी' को सन्त-कवि ने चार खण्डो मे विभक्त किया है :

खण्ड : 1 सकर नहीं, वर्ण-लाभ

खण्ड : 2 शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं

खण्ड : 3 पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन

खण्ड : 4 अग्नि की परीक्षा, चाँदी-सी राख

पहला खण्ड माटी की उस प्राथमिक दशा के परिशोधन की प्रक्रिया को व्यक्त करता है जहाँ वह पिंड रूप मे कंकर-कणो से मिली-जुली अवस्था मे है। कुम्भकार की कल्पना मे माटी का मंगल-घट अवतरित हुआ है। कुम्भकार माटी को मगल-घट का जो सार्थक रूप देना चाहता है उसके लिए पहले यह आवश्यक है कि माटी को खोदकर, उसे कूट-छानकर, उसमे से ककरों को हटा दिया जाये। माटी जो अभी वर्ण-संकर है, क्योंकि उसकी प्रकृति के विपरीत बेमेल तत्त्व कंकर उसमे आ मिले हैं वह अपना मौलिक वर्णलाभ तभी प्राप्त करेगी जब वह मृदु माटी के रूप मे अपनी शुद्ध दशा प्राप्त करे :

> **इस प्रसंग मे**
> **वर्ण का आशय न रग से है, न ही अंग से**
> **वरन् चाल-चरण, ढग से है।**
> **यानी,**
> **जिसे अपनाया है**
> **उसे जिसने अपनाया है**
> **उसके अनुरूप**
> **अपने गुण-धर्म—**
> **रूप स्वरूप को**
> **परिवर्तित करना होगा**
> **वरना**
> **वर्ण-सकर दोष को**
> **वरना होगा।**
> **केवल वर्ण-रग की अपेक्षा**
> **गाय का क्षीर भी धवल है, आक का क्षीर भी धवल है**
> **दोनों ऊपर से विमल हैं,**
> **परन्तु**
> **परस्पर उन्हें मिलाते ही विकार उत्पन्न होता है,**
> **क्षीर फट जाता है, पीर बन जाता है वह।**
> **नीर का क्षीर बनना ही वर्ण-लाभ है, वरदान है**

और
क्षीर का फट जाना ही वर्ण-संकर है, अभिशाप है।

खण्ड दो—शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं

लो, अब शिल्पी कुंकुम-सम मृदु माटी मे
मात्रानुकूल मिलाता है छना निर्मल जल।
नूतन प्राण फूंक रहा है माटी के जीवन में,
करुणामय कण-कण में···
माटी के प्राणों में जा, पानी ने वहाँ नव-प्राण पाया है
ज्ञानी के पदों मे जा अज्ञानी ने जहाँ नव-ज्ञान पाया है।

माटी को खोदने की प्रक्रिया मे कुम्भकार की कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है, उसका सिर फट जाता है, वह बदला लेने की सोचता है कि कुम्भकार को अपनी असावधानी पर ग्लानि होती है। उसके उद्‌गार हैं :

खंमामि, खमंतु मे···
क्षमा करता हूँ सबको, क्षमा चाहता हूँ सबसे
सब से सदा-सहज बस मैत्री रहे मेरी··
यहाँ कोई भी तो नहीं है ससार भर में मेरा बैरी।

इस भावना का प्रभाव प्रतिलक्षित हुआ—

क्रोध भाव का शमन हो रहा है—
प्रतिशोध भाव का वमन हो रहा है ··
पुण्य-निधि का प्रतिनिधि बना
बोध-भाव का आगमन हो रहा है

× × ×

बोध के सिंचन बिना, शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
शब्दों के पौधों पर सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं।
बोध का फूल जब ढलता-बदलता जिसमें,
वह पक्व फल ही तो शोध कहलाता है।
बोध में आकुलता पलती है
शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से तृप्ति का अनुभव होता है।

इस दूसरे खण्ड मे सन्त-कवि ने साहित्य-बोध को अनेक आयामों में अंकित किया है। यहाँ नव रसों को परिभाषित किया है। संगीत की अन्तरंग प्रकृति

का प्रतिपादन है। शृंगार रस की नितान्त मौलिक व्याख्या है। ऋतुओं के वर्णन मे कविता का चमत्कार मोहक है। तत्त्व-दर्शन तो, जैसा मैं कह चुका हूँ, अनायास ही पद-पद पर उभर आता है।

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' सूत्र का व्यावहारिक भाषा मे चमत्कारी अनुवाद किया है :

> आना जाना लगा हुआ है
> आना यानी जनन—उत्पाद है,
> जाना यानी मरण—व्यय है
> लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
> और
> है यानी चिर सत्
> यही सत्य है, यही तथ्य।

भाव यह है कि उच्चारण मात्र 'शब्द' है, शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना 'बोध' है, और इस बोध को अनुभूति मे, आचरण मे, उतारना 'शोध' है।

तीसरा खण्ड—पुण्य का पालन . पाप प्रक्षालन

मन, वचन, काय की निर्मलता से, शुभ कार्यों के सम्पादन से, लोक-कल्याण की कामना से, पुण्य उपार्जित होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ से पाप फलित होता है।

> यह बात निराली है कि
> मौलिक मुक्ताओं का निधान सागर भी है
> कारण कि मुक्ता का
> उपादान जल है
> यानी जल ही मुक्ता का रूप धारण करता है
> तथापि
> विचार करें तो विदित होता है कि
> इस कार्य में धरती का ही प्रमुख हाथ है।
> जल को मुक्ता के रूप में ढालने में
> शुक्तिका—सीप—कारण है
> और सीप स्वयं धरती का अंश है
> स्वयं धरती ने सीप को प्रशिक्षित कर
> सागर में प्रेषित किया है।

जड़ को जड़त्व से मुक्त कर मुक्ताफल बनाना
पतन के गर्त से निकालकर उत्तुंग —उत्थान पर धरना
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है ।
यही दया-धर्म है
यही जिया-कर्म है ।

इस तीसरे खण्ड मे कुम्भकार ने माटी की विकास-कथा के माध्यम से पुण्य-कर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण किया है । मेघ से मेघ-मुक्ता का अवतार । मुक्ता का वर्षण होता है अपक्व कुम्भो पर, कुम्भकार के प्रागण मे । मोतियो की वर्षा का समाचार पहुँचा राजा के पास । मुक्ता की राशि को बोरियो मे भरने का सकेत मिला राजा की मण्डली को ।···नीचे झुकी मण्डली राशि भरने को ज्यों ही, गगन मे गुरु गम्भीर गर्जना—अनर्थ, अनर्थ, अनर्थ ! पाप···पाप···पाप ।

राजा को अनुभूत हुआ कि किसी मन्त्र-शक्ति द्वारा उसे कीलित किया गया है । अन्त मे कुम्भकार ने यह सोचकर कि मुक्ता-राशि पर वास्तव मे राजा का ही अधिकार है, उसे समर्पित कर दिया ।

धरती की कीर्ति देखकर सागर को क्षोभ/सागर के क्षोभ का प्रतिपक्षी बडवानल/तीन घन बादलो की उमडन—कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओ के प्रतीक/सागर द्वारा राहु का आह्वान/सूर्यग्रहण/इन्द्र द्वारा मेघो पर बज्र-प्रहार, ओलो की वर्षा, प्रलयकर दृश्य ।

ऊपर अणु की शक्ति काम कर रही है
तो इधर नीचे मनु की शक्ति विद्यमान
एक मारक, एक तारक
एक विज्ञान है जिसकी आजीविका तर्कणा है,
एक आस्था है जिसे आजीविका की चिन्ता नहीं—
जल और ज्वलनशील अनल में
अन्तर शेष रहता नहीं साधक की दृष्टि में ।
निरन्तर साधना की यात्रा भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए

चतुर्थ खण्ड—अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख

कुम्भकार ने घट को रूपाकार दे दिया है, अब उसे अवा मे तपाने की तैयारी है । पूरी प्रक्रिया काव्य-बद्ध है । अनेक प्रकार की प्रक्रियाओ के बीच बबूल की

लकड़ी अपनी व्यथा कहती है। अवे में लकड़ियाँ जलती हैं, बुझती हैं, बराबर कुम्भकार उन्हें प्रज्वलित करता है। अपक्व कुम्भ कहता है अग्नि से :

> मेरे दोषों को जलाना ही, मुझे जिलाना है।
> स्व-पर दोषों को जलाना परम धर्म माना है सन्तों ने···
> दोष अजीव हैं, नैमित्तिक हैं
> बाहर से आगत हैं कथंचित्।
> गुण जीव-गत हैं, गुण का स्वागत है।···
> तुम्हे परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,
> इस जीवन में अर्थ मिलेगा तुमसे,·
> मुझमें जल धारण करने की शक्ति है
> जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,
> उसकी पूरी अभिव्यक्ति में तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।

चतुर्थ खण्ड का फलक इतना विस्तृत है और कथा-प्रसग इतने अधिक हैं कि उनका सार-सक्षेप देना भी कठिन है। अवा मे कुम्भ कई दिन तक तपा है। अवे के पास आता है कुम्भकार :

> कुम्भ की कुशलता, सो अपनी कुशलता—
> यूं कहता हुआ कुम्भकार सोल्लास स्वागत करता है कुम्भ का
> और, रेतिल राख की राशि को, जो आवा की छाती पर थी,
> हाथों में फावड़ा ले हटाता है।
> ज्यों-ज्यों राख हटती जाती है
> त्यों-त्यों कुम्भकार का कुतूहल
> बढ़ता जाता है
> कि कब दिखे वह कुशल कुम्भ।

और, पके-तपे कुम्भ को निकालता है बाहर, सोल्लास। इसी कुम्भ को कुम्भकार ने दिया है श्रद्धालु नगर-सेठ के सेवक के हाथो कि इसमे भरे जल से आहारदान के लिए पधारे गुरु का पाद-प्रक्षालन हो, तृषा तृप्त हो। ले जाने से पहले सात बार बजाता है सेवक और सात स्वर उसमें से ध्वनित होते हैं, जिनका अर्थ कवि के मन मे इस प्रकार प्रतिध्वनित होता है :

> सा···रे···ग···म···यानी (सारे गम)
> सभी प्रकार के दुख
> प···धा··· यानी पद-स्वभाव

और, नि श्यानी नहीं—
दुःख आत्मा का स्वभाव धर्म नहीं हो सकता
मोह कर्म से प्रभावित आत्मा का
विभाव परिणमन मात्र है वह।

इसी प्रसंग मे मृदंग के स्वर भी गुंजरित होते हैं .

धा · धिन ··धिन धा।
धा · धिन · धिन · धा
वे तन भिन्ना, चेतन भिन्ना
ता···तिन ··तिन ता।
ता···तिन · तिन···ता
का तन चिन्ता, का तन चिन्ता ?

इस खण्ड मे साधु की आहार-दान की प्रक्रिया सविवरण उजागर हुई है। भक्तों की भावना, आहार देने या न दे सकने का हर्ष-विषाद, साधु की दृष्टि, धर्मोपदेश का सार और आहार-दान के उपरान्त सेठ का अनमने भाव से घर लौटना, संभवतः इसलिए कि सेठ को जीवन का गन्तव्य दिखाई दे गया है, किन्तु वह अभी बन्धन मुक्त नही हो सकता।

सन्त समागम की
यही तो सार्थकता है कि
ससार का अन्त दिखने लगता है।
समागम करने वाला भले ही
तुरन्त सन्त संयत बने या न बने,
इसमें कोई नियम नहीं है
किन्तु वह संतोषी अवश्य बनता है
सही दिशा का प्रासाद ही
सही दशा का प्रसाद है।

प्रसंगों का, बात मे से बात की उद्‌भावना का, तत्त्व-चिन्तन के ऊँचे छोरो को देखने-सुनने का, और लौकिक तथा पारलौकिक जिज्ञासाओं एवं अन्वेषणों का एक विचित्र छवि-घर है यह चतुर्थ खण्ड। यहाँ पूजा-उपासना के उपकरण सजीव वार्तालाप मे निमग्न हो जाते हैं। मानवीय भावनाएँ, गुण और अवगुण, इनके माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं। यह अद्‌भुत नाटकीयता, अतिशयता और प्रसंगों के पूर्वापर सम्बन्धो का बिखराव समीक्षक के लिए असुविधाजनक हो सकते हैं, किन्तु काव्य को प्रासंगिक बनाने की दृष्टि से इनकी परिकल्पना

साहसिक, सार्थक और आधुनिक परिदृश्य के अनुकूल है। यह खण्ड अपने आप मे एक खण्ड-काव्य है। यह पूरा-का-पूरा उद्धृत करने योग्य है। कठिनाई यह है कि थोड़े से उद्धरण देना कृति के प्रति न्याय नही। जो छूटा है वह अपेक्षाकृत विशाल है, महत्त्वपूर्ण है। अस्तु। देखें कथा प्रसंग को :

स्वर्णकलश उद्विग्न और उत्तप्त है कि कथानायक ने उसकी उपेक्षा करके मिट्टी के घडे को आदर क्यो दिया है। इस अपमान का बदला लेने के लिए स्वर्णकलश एक आतंकवादी दल आहूत करता है जो सक्रिय होकर परिवार मे त्राहि-त्राहि मचा देता है। उसके क्या कारनामे हैं, किन विपत्तियो मे से सेठ अपने परिवार की रक्षा स्वय और सहयोगी प्राकृतिक शक्तियो तथा मनुष्येतर प्राणियो—गजदल और नाग-नागनियो—की सहायता से कर पाता है, मँझधार मे डूबती नाव से किस प्रकार सबकी प्राण रक्षा होती है, किस प्रकार सेठ का क्षमाभाव आतंकवादियों का हृदय परिवर्तन करता है, इस सबका विवरण उपन्यास से कम रोचक नही। कविता का रसास्वाद तो भरपूर है ही। हम मानें तो मान सकते हैं कि 'स्वर्णकलश' और आतकवाद आज के जीवन के ताजे सन्दर्भ हैं। समाधान आज के प्रसगो के अनुरूप आधुनिक समाज-व्यवस्था के विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सीधे-सपाट ढंग से नही, काव्य की लक्षणा और व्यंजना पद्धति से।

विचित्र बात यह है कि सामाजिक दायित्व-बोध हमे प्राप्त होता है एक मच्छर के माध्यम से :

> खेद है कि लोभी पापी मानव
> पाणिग्रहण को भी
> प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।…
> प्राय. अनुचित रूप से
> सेवकों से सेवा लेते, और
> वेतन का वितरण भी अनुचित ही।
> ये अपने को बताते मनु की सन्तान—
> महामना मानव !
> देने का नाम सुनते ही
> इनके उदार हाथों में
> पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं
> फिर भी, एकाध बूंद के रूप में
> जो कुछ दिया जाता, या देना पड़ता
> वह दुर्भावना के साथ ही।

जिसे पाने वाले पचा न पाते सही
अन्यथा
हमारा रुधिर लाल होकर भी
इतना दुर्गन्ध क्यों ?

और सेठ से मच्छर कहता है :

सुखा प्रलोभन मत दिया करो,
स्वाश्रित जीवन जिया करो,
कपटता की पटुता को
जलांजलि दो !
गुरुता की जनिका लघुता को
श्रद्धांजलि दो।
शालीनता की विशालता में
आकाश समा जाय,
जीवन उदारता का उदाहरण बने;
अकारण ही—
पर के दुख का सदा हरण हो।

और अन्त में पाषाण-फलक पर आसीन नीराग साधु की वन्दना के उपरान्त स्वयं आतंकवाद कहता है :

हे स्वामिन्, समग्र संसार ही दुःख से पूर है
यहाँ सुख है, पर वैषयिक, और वह भी क्षणिक !
यह तो अनुभूत हुआ हमें,
परन्तु अक्षय सुख पर विश्वास नहीं हो रहा है।
हाँ, हाँ, यदि अविनश्वर सुख पाने के बाद
आप स्वयं उस सुख को हमें दिला सकते या
उस विषय में अपना अनुभव बता सकते तो
हम भी आश्वस्त हो आप जैसी साधना को
जीवन में अपना सकें।
'तुम्हारी भावना पूरी हो,' ऐसे वचन दो हमें,
बड़ी कृपा होगी हम पर।

गुरु तो प्रवचन ही दे सकते हैं, 'वचन' नहीं। आत्मा का उद्धार तो अपने ही पुरुषार्थ से हो सकता है और अविनश्वर सुख वचनों से बताया नहीं जा सकता। वह तो साधना से प्राप्त आत्मोपलब्धि है। साधु की देशना है :

बन्धन रूप तन, मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही मोक्ष है ।
इसी की शुद्ध दशा में अविनश्वर सुख होता है
जिसे
प्राप्त होने के बाद,
यहाँ संसार में आना कैसे संभव है,
तुम्हीं बताओ ।

विश्वास की अनुभूति मिलेगी
अवश्य मिलेगी, मगर
मार्ग में नहीं, मंज़िल पर ।
और महामौन में डूबते हुए सन्त···
और माहौल को अनिमेष निहारती-सी
मूकमाटी ।

ये कुछ संकेत हैं मूकमाटी की कथावस्तु के, उसके काव्य की गरिमा, कथ्य के आध्यात्मिक आयामों, दर्शन और चिन्तन के प्रेरणादायक स्फुरणों के ।

इन सब के अतिरिक्त और बहुत कुछ प्रासंगिक और आनुषंगिक है इस महाकाव्य में, यथा लोकजीवन के रचे-पचे मुहावरे, बीजाक्षरों के चमत्कार, मन्त्रविद्या की आधार-भित्ति, आयुर्वेद के प्रयोग, अंकों का चमत्कार, और आधुनिक जीवन में विज्ञान से उपजी कतिपय नयी अवधारणायें जो 'स्टार-वार' तक पहुँचती हैं ।

यह कृति अधिक परिमाण में काव्य है या अध्यात्म, कहना कठिन है । लेकिन निश्चय ही यह है आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र । और, जिस प्रकार शास्त्र का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करना होता है, गुरु से जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करना होता है, उसी प्रकार इसका अध्ययन और मनन अद्भुत सुख और संतोष देगा, ऐसा विश्वास है ।

यह भूमिका नहीं, आमुख और प्राक्कथन नहीं । यह प्रस्तवन है, संस्तुवन है—तपस्वी आचार्य सन्त-कवि विद्यासागर जी का, जिनकी प्रज्ञा और काव्य-प्रतिभा से यह कल्पवृक्ष उपजा है ।

दिल्ली,
पर्युषण-पर्व
सितम्बर, 1988

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
भारतीय ज्ञानपीठ

'मूक माटी' महाकाव्य के सर्जेता, यशस्वी सन्त
आचार्य विद्यासागर जी

मूक माटी
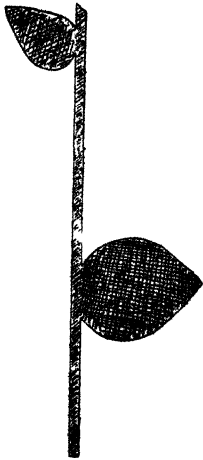
भारतीय ज्ञानपीठ

णमो णाणगुरुणं

जिस आत्म-द्रष्टा से
दर्शन मिला
जिस मन्त्र-स्रष्टा से
मन्त्र मिला
जिसने पद दिया
पथ दिया
पाथेय भी दिया
जिनके कोमल कर-पल्लवों से
यह जीवन पोषित हुआ
मोह का प्रताप शोषित हुआ
उस गारव-रहित
गुण का आगर गुरुवर
श्री ज्ञानसागर जी के
सुखद कर-कमलों मे
परोक्षरूप से
मूकमाटी सृजन का
समर्पण करता हुआ

— गुरुचरणारविन्द-चञ्चरीक

मानस-तरंग

सामान्यत: जो है, उसका अभाव नही हो सकता, और जो है ही नही, उसका उत्पाद भी सम्भव नही। इस तथ्य का स्वागत, केवल दर्शन ने ही नही, नूतन भौतिक-युग ने भी किया है।

यद्यपि प्रति वस्तु की स्वभावभूत-सृजनशीलता एव परिणमन-शीलता से वस्तु का त्रिकाल-जीवन सिद्ध होता है, तथापि इस अपार-संसार का सृजक-स्रष्टा कोई असाधारण बलशाली पुरुष है, और वह ईश्वर को छोड़कर और कौन हो सकता है ? इस मान्यता का समर्थन प्राय: सब दर्शनकार करते है। वे कार्य-कारण व्यवस्था से अपरिचित हैं।

किसी भी 'कार्य का कर्त्ता कौन है और कारण कौन ?' इस विषय का जब तक भेद नही खुलता, तब तक ही यह संसारी जीव मोही, अपने से भिन्न-भूत अनुकूल पदार्थों के सम्पादन-संरक्षण मे और प्रतिकूलताओ के परिहार में दिन-रात तत्पर रहता है।

हाँ, तो चेतन-सम्बन्धी कार्य हो या अचेतन सम्बन्धी, बिना किसी कारण, उसकी उत्पत्ति सम्भव नही। और यह भी एक अकाट्य नियम है कि कार्य कारण के अनुरूप ही हुआ करता है। जैसे बीज बोते हैं वैसे ही फल पाते हैं, विपरीत नही।

वैसे मुख्यरूप से कारण के दो रूप है—एक उपादान और एक निमित्त—(उपादान को अन्तरंग कारण और निमित्त को बाह्य-कारण कह सकते हैं।) उपादान-कारण वह है, जो कार्य के रूप ढलता है और उसके ढलने में सहयोगी जो होता है वह है निमित्त। जैसे माटी का लोंदा कुम्भकार के सहयोग से कुम्भ के रूप में बदलता है।

उपरिल उदाहरण सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसमे केवल उपादान की ही नही, अपितु निमित्त की भी अपनी मौलिकतायें सामने आती हैं। यहाँ पर निमित्त-कारण के रूप मे कार्यरत कुम्भकार के सिवा और भी कई निमित्त हैं—आलोक, चक्र, चक्र-भ्रमण हेतु समुचित दण्ड, डोर और धरती मे गड़ी निष्कम्प-कील आदि-आदि।

इन निमित्त-कारणो मे कुछ उदासीन हैं, कुछ प्रेरक। ऐसी स्थिति मे निमित्त कारणों के प्रति अनास्था रखनेवालो से यह लेखनी यही पूछती है कि :

—क्या आलोक के अभाव मे कुशल कुम्भकार भी कुम्भ का निर्माण कर सकता है ?

—क्या चक्र के बिना माटी का लोंदा कुम्भ के रूप में ढल सकता है ?
—क्या बिना दण्ड के चक्र का भ्रमण सम्भव है ?
—क्या कील का आधार लिये बिना चक्र का भ्रमण सम्भव है ?
—क्या सबके आधारभूत धरती के अभाव मे वह सब कुछ घट सकता है ?
—क्या कील और आलोक के समान कुम्भकार भी उदासीन है ?
—क्या कुम्भकार के करो मे कुम्भाकार आये बिना स्पर्श-मात्र से माटी का लोदा कुम्भ का रूप धारण कर सकता है ?
—कुम्भकार का उपयोग, कुम्भाकार हुए बिना, कुम्भकार के करो मे कुम्भाकार आ सकता है ?
—क्या बिना इच्छा भी कुम्भाकार अपने उपयोग को कुम्भाकार दे सकता है ?
—क्या कुम्भ बनाने की इच्छा निरुद्देश्य होती है ?

इन सब प्रश्नो का समाधान 'नहीं' इस शब्द के सिवा और कौन देता है ?

निमित्त की इस अनिवार्यता को देखकर ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानना भी वस्तु-तत्त्व की स्वतन्त्र योग्यता को नकारना है और ईश्वर-पद की पूज्यता पर प्रश्न-चिह्न लगाना है।

तत्त्वखोजी, तत्त्वभोजी वर्ग मे ही नही, ईश्वर के सही उपासको मे भी यह शका जन्म ले सकती है कि सृष्टि-रचना से पूर्व ईश्वर का आवास कहाँ था ? वह शरीरातीत था या सशरीरी ?

अशरीरी होकर असीम सृष्टि की रचना करना तो दूर, सासारिक छोटी-छोटी क्रिया भी नही की जा सकती। हाँ ! ईश्वर मुक्तावस्था को छोड़कर पुनः शरीर को धारण कर जागतिक-कार्य कर लेता है, ऐसा कहना भी उचित नही, क्योंकि शरीर की प्राप्ति कर्मों पर, कर्मों का बन्धन शुभाशुभ विभावभावों पर आधारित है और ईश्वर इन सबसे ऊपर उठा हुआ होता है यह सर्व-सम्मत है।

विषय-कषायों को त्यागकर जितेन्द्रिय, जितकषाय और विजितमना हो जिसने पूरी आस्था के साथ आत्म-साधना की है और अपने मे छुपी हुई ईश्वरीय शक्ति का उद्घाटन कर अविनश्वर सुख को प्राप्त किया है, वह ईश्वर अब संसार मे अवतरित नहो हो सकता है। दुग्ध मे से घृत को निकालने के बाद घृत कभी दुग्ध के रूप मे लौट सकता है क्या ?

ईश्वर को सशरीरी मानने रूप दूसरा विकल्प भी उपयुक्त नही है, क्योंकि शरीर अपने आप मे वह बन्धन है जो सब बन्धनो का मूल है। शरीर है तो संसार है, संसार मे दुःख के सिवा और क्या है ? अतः ईश्वरत्व किसी भी दुःख-रूप बन्धन को स्वीकार-सहन नही कर सकता है। वैसे ईश्वरत्व की उपलब्धि ससारदशा मे सम्भव नही। हाँ, संसारी ईश्वर बन सकता है, साधना के बल पर, सांसारिक बन्धनो को तोड़कर।

यह भी नही कहा जा सकता है कि विद्याओ, विक्रियाओं के बल पर, विद्याधरो और देवो के द्वारा भी मनोहर नगरादिको की जब रचना की जाती है, तब सशरीरी ईश्वर के द्वारा सृष्टि की रचना मे क्या बाधा है ? क्योंकि देवादिको से निर्मित नगरादिक तात्कालिक होते हैं, न कि त्रैकालिक। वह भी सीमित होते हैं, कि न ही विश्वव्यायक। और यहाँ परोपकार का प्रयोजन नही अपितु विषय-सुख के प्यासे मन की तुष्टि है। सही बात तो यह है कि विद्या-विक्रियायें भी पूर्व-कृत पुण्योदय के अनुरूप ही फलती हैं, अन्यथा नही।

जैनदर्शन सम्मत सकल परमात्मा भी, जो कर्म-पर्वतों के भेत्ता, विश्व-तत्त्वो के ज्ञाता और मोक्ष-मार्ग के नेता के रूप मे स्वीकृत हैं, सशरीरी है। वह जैसे धर्मोपदेश देकर संसारी जीवो का उपकार करते हैं वैसे ही ईश्वर सृष्टि-रचना करके हमको, सबको उपकृत करते हैं, ऐसा कहना भी युक्ति-युक्त नहीं है। क्योकि प्रथम तो जैन-दर्शन ने सकल परमात्मा को भगवान के रूप मे औपचारिक स्वीकार किया है। यथार्थ मे उन्हे स्नातक-मुनि की संज्ञा दी है और ऐसे ही वीतराग, यथाजात-मुनि नि स्वार्थ, धर्मोपदेश देते हैं।

जिन-शासन के धर्मोपदेश को आधार बनाकर अपने मत की पुष्टि के लिए ईश्वर को विश्व-कर्मा के रूप मे स्वीकारना ही ईश्वर को पक्षपात की मूर्ति, रागी-द्वेषी सिद्ध करना है। क्योकि उनके कार्य कार्य-भूत संसारी जीव, कुछ निर्धन, कुछ धनी, कुछ निर्गुण-कुछ गुणी, कुछ दीन-हीन-दयनीय-पराधीन, कुछ स्वतन्त्र-स्वाधीन-समृद्ध, कुछ नर कुछ वानर-पशु-पक्षी, कुछ छली-कपटी-धूर्त हृदय-शून्य, कुछ सुकृती पुण्यात्मा, कुछ सुरूप-सुन्दर कुछ कुरूप-विद्रूप आदि-आदि क्यो हैं ? इन सबको समान क्यो न बनाते वह ईश्वर ? अथवा अपने समान भगवान बनाते सबको ? दीनदयाल दया-निधान का व्यक्तित्व ऐसा नही हो सकता। इस महान दोष से ईश्वर को बचाने हेतु, यदि कहो, कि अपने-अपने किये हुए पुण्यापुण्य के अनुसार ही, ससारी-जीवो को सुख:दुख भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादिको मे ईश्वर भेजता है, यह कहना भी अनुचित है क्योकि जब इन जीवो की सारी विविधतायें-विषमतायें शुभाशुभ कर्मों की फलश्रुति है, फिर ईश्वर से क्या प्रयोजन रहा ? पुलिस के कारण नही; चोर चोरी के कारण जेल मे प्रवेश पाता है, देवो के कारण नही, शील के कारण सीता का यश फैला है।

इस सन्दर्भ मे एक बात और कहनी है कि "कुछ दर्शन, जैन-दर्शन को नास्तिक मानते हैं और प्रचार करते हैं कि जो ईश्वर को नही मानते हैं, वे नास्तिक होते हैं।" यह मान्यता उनकी दर्शन-विषयक अल्पज्ञता को ही सूचित करती है। ज्ञात रहे, कि श्रमण-सस्कृति के सपोषक जैन-दर्शन ने बडी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय-पूज्य के रूप मे स्वीकारा है, सृष्टि-कर्ता के रूप मे नही।

इसीलिए जैन-दर्शन, नास्तिक दर्शनो को सही दिशाबोध देनेवाला एक आदर्श आस्तिक दर्शन है। यथार्थ मे ईश्वर को सृष्टि-कर्ता के रूप में स्वीकारना ही, उसे नकारना है, और यही नास्तिकता है, मिथ्या है। यह भाव तेजोबिन्दु उपनिषद की निम्न कारिका से भली-भाँति स्पष्ट होता है —

"रक्षको बिष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम्।"*
"सहारे रुद्र इत्येव सर्वं मिथ्येति निश्चिनु।"**

ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है। अस्तु।

ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तो के उद्‌घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक स भर-पूर श्रृंगार-रस के जीवन मे भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमे लौकिक अलंकार अलौकिक अलकारो से अलकृत हुए हैं; अलंकार अब अलं का अनुभव कर रहा है, जिसमे शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ; जिसमे नूतन-शोध-प्रणाली को आलोचन के मिष, लोचन दिये हैं; जिसने सृजन के पूर्व ही हिन्दी जगत् को अपनी आभा से प्रभावित-भावित किया है, प्रत्यूष मे प्राची की गोद में छुपे भानु-सम; जिसके अवलोकन से काव्य-कला-कुशल-कवि तक स्वयं को अध्यात्मक-काव्य-सृजन से सुदूर पायेंगे; जिसकी उपास्य-देवता शुद्ध-चेतना है। जिसके प्रति प्रसग पंक्ति से पुरुष को प्रेरणा मिलती है—सुसुप्त चैतन्य-शक्ति को जागृत करने की; जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नही है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमे उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। इसीलिए 'संकर-दोष से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव जीवन का औदार्य व साफल्य माना है।" जिसने शुद्ध-सात्विक भावो से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है, जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रो मे प्रविष्ट हुई कुरीतियो को निर्मूल करना और युग को शुभ-सस्कारों से सस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है · और जिसका नामकरण हुआ है मूक-माटी।

· ·मढ़िया जी (जबलपुर) मे
द्वितीय वाचना का काल था
सृजन का अथ हुआ और
नयनाभिराम— नयनागिरि में
पूर्ण पथ हुआ
समवसरण मन्दिर बना
जब गजरथ हुआ।

—गुरुचरणारविन्द-चञ्चरीक

* तेजोबिन्दूपनिषद् ५/५१ ** वही ५/५२

खण्ड : एक

संकर नहीं, वर्ण-लाभ
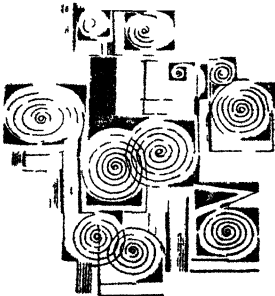
मूकमाटी

सीमातीत शून्य में
नीलिमा बिछाई,
और…इधर…नीचे
निरी नीरवता छाई,

निशा का अवसान हो रहा है
उषा की अब शान हो रही है

भानु की निद्रा टूट तो गई है
परन्तु अभी वह
लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,
मुख पर अंचल ले कर
करवटें ले रहा है।

प्राची के अधरों पर
मन्द मधुरिम मुस्कान है
सर पर पल्ला नहीं है
और
सिंदूरी धूल उड़ती-सी
रंगीन-राग की आभा –
भाई है, भाई…!

लज्जा के घूंघट में
डूबती-सी कुमुदिनी
प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह,
अपनी पराग को—
सराग-मुद्रा को—
पाँखुरियों की ओट देती है।

लो !…इधर… !
अध-खुली कमलिनी
डूबते चाँद की
चाँदनी को भी नहीं देखती
आँखें खोल कर।
ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना
सब के वश की बात नहीं,
और…वह भी…
स्त्री-पर्याय में—
अनहोनी-सी…घटना !

अबला बालायें सब
तरला तारायें अब
छाया की भाँति
अपने पतिदेव
चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो
छुपी जा रही
कहीं…सुदूर…दिगन्त में…
दिवाकर उन्हें
देख न ले, इस शंका से।
मन्द-मन्द
सुगन्ध पवन
बह रहा है;
बहना ही जीवन है

बहता-बहता
कह रहा है :

लो !
यह सन्धि-काल है ना !
महक उठी सुगन्धि है
ओर-छोर तक, चारों ओर।

मेरे लिए
इससे बढ़ कर श्रेयसी
कौन-सी हो सकती है
सन्धि वह !

न निशाकर है, न निशा
न दिवाकर है, न दिवा
अभी दिशायें भी अन्धी हैं;
पर की नासा तक
इस गोपनीय वार्ता की गन्ध
...जा नहीं सकती !
ऐसी स्थिति में
उनके मन में
कैसे जाग सकती है
...दुरभि-सन्धि वह !

और ...इधर... सामने
सरिता...
जो सरपट सरक रही है
अपार सागर की ओर
सुन नहीं सकती, इस वार्ता को
कारण !

पथ पर चलता है
सत्पथ-पथिक वह
मुड़कर नहीं देखता
तन से भी, मन से भी।

और, संकोच-शीला
लाजवती लावण्यवती—
सरिता-तट की माटी
अपना हृदय खोलती है
माँ धरती के सम्मुख !

"स्वयं पतिता हूँ
और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से
पद-दलिता हूँ माँ !

सुख-मुक्ता हूँ
दु:ख-युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !

इसकी पीड़ा अव्यक्ता है
व्यक्त किसके सम्मुख करूँ !

क्रम-हीना हूँ
पराक्रम से रीता
विपरीता है इसकी भाग्य रेखा।

यातनायें पीड़ायें ये !
कितनी तरह की वेदनायें
कितनी और...आगे
कब तक...पता नहीं
इनका छोर है या नहीं !

श्वास-श्वास पर
नासिका बन्द कर
आर्त-घुली घूँट
बस
पीती ही आ रही हूँ
और
इस घटना से कहीं

दूसरे दुःखित न हों
मुख पर घूँघट लाती हूँ
घुटन छुपाती-छुपाती
·· घूँट
पीती ही जा रही हूँ,
केवल कहने को
जीती ही आ रही हूँ।

इस पर्याय की
इति कब होगी ?
इस काया की
च्युति कब होगी ?
बता दो, माँ···इसे !

इसका जीवन यह
उन्नत होगा, या नहीं
अनगिन गुण पाकर
अवनत होगा, या नहीं
कुछ उपाय करो माँ !
खुद अपाय हरो माँ !

और सुनो,
विलम्ब मत करो
पद दो, पथ दो
पाथेय भी दो माँ !''

फिर,
कुछ क्षणा के लिए
मौन छा जाता है—
दोनों अनिमेष
एक दूसरे को ताकती हैं
धरा की दृष्टि माटी मे
माटी की दृष्टि धरा मे

बहुत दूर···भीतर···
जा···जा—समाती है

अब,
धीरे-धीरे
मौन का भग होता है
माँ की ओर से !

जिस की आँखे
और सरल—
और तरल हो आ रही है,
जिनमें
हृदयवती चेतना का
दर्शन हो रहा है,

जिसके
सल-छलों से शून्य
विशाल भाल पर
गुरु-गम्भीरता का
उत्कर्षण हो रहा है,

जिसके
दोनों गालो पर
गुलाब की आभा ले
हर्ष के संवर्धन से
दृग-बिन्दुओं का अविरल
वर्षण हो रहा है,

विरह-रिक्तता, अभाव—
अलगाव-भाव का भी
शनैः शनैः
अपकर्षण हो रहा है,

नियोग कहो या प्रयोग
सहज-रूप से अनायास

अनन्य आत्मीयता का
संस्पर्शन हो रहा है।

और वह
धृति-धारिणी धरती
कुछ कहने को आकर्षित होती है,
सम्मुख माटी का
आकर्षण जो रहा है!

लो!
भीगे भावों से
सम्बोधन की शुरुआत :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा!
प्रति-सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें
उत्थान-पतन की,
खसखस के दाने-सा
बहुत छोटा होना है
बड का बीज वह!

समुचित क्षेत्र में उसका वपन हो
समयोचित खाद, हवा, जल
उसे मिलें
अंकुरित हो, कुछ ही दिनों में
विशाल काय धारण कर
वट के रूप में अवतार लेता है,
यही इसकी महत्ता है।

सत्ता शाश्वत होती है
सत्ता भास्वत होती है बेटा!

रहस्य में पड़ी इस गन्ध का
अनुपान करना होगा

आस्था की नासा से सर्वप्रथम
समझी बात···!

और यह भी देख !
कितना खुला विषय है कि
उजली-उजली जल की धारा
बादलों से झरती है
धरा-धूल में आ धूमिल हो
दल-दल में बदल जाती है।

वही धारा यदि
नीम की जड़ों में जा मिलती
कटुता में ढलती है;

सागर में जा गिरती
लवणाकर कहलाती है
वही धारा, बेटा !

विषधर मुख में जा
विष-हाला में ढलती है;

सागरीय शुक्तिका में गिरती,
यदि स्वाति का काल हो,
मुक्तिका बन कर
झिलमिलाती बेटा,
वही जलीय सत्ता···!

जैसी संगति मिलती है
वैसी मति होती है
मति जैसी, अग्रिम गति
मिलती जाती···मिलती जाती···
और यही हुआ है
युगों-युगों से
भवों-भवों से !

इसलिए, जीवन का
आस्था से वास्ता होने पर
रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को
साथी बन साथ देता है।
आस्था के तारों पर ही
साधना की अंगुलियाँ
चलती हैं साधक की,
सार्थक जीवन में तब
स्वरातीत सरगम झरता है !
समझी बात, बेटा ?

और
तूने जो
अपने आपको
पतित जाना है
लघु-तम माना है
यह अपूर्व घटना
इसलिए है कि
तूने
निश्चित-रूप से
प्रभु को,
गुरु-तम को
पहचाना है !
तेरी दूर-दृष्टि में
पावन-पूत का बिम्ब
बिम्बित हुआ अवश्य !

असत्य की सही पहचान ही
सत्य का अवधान है, बेटा !

पतन पाताल का अनुभव ही
उत्थान-ऊँचाई की
आरती उतारना है !

किन्तु बेटा !
इतना ही पर्याप्त नहीं है ।
आस्था के विषय को
आत्मसात् करना हो
उसे अनुभूत करना हो
तो
साधना के साँचे में
स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !

पर्वत की तलहटी से भी
हम देखते हैं कि
उत्तुंग शिखर का
दर्शन होता है,
परन्तु
चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन
सम्भव नहीं है !

हाँ ! हाँ !!
यह बात सही है कि,
आस्था के बिना रास्ता नहीं
मूल के बिना चूल नहीं,
परन्तु
मूल में कभी
फूल खिले है ?
फलों का दल वह
दोलायित होता है
चूल पर ही आखिर !

हाँ ! हाँ !!···इसे
खेल नहीं समझना
यह सुदीर्घ-कालान
परिश्रम का फल है, बेटा !

भले ही वह
आस्था हो स्थायी
हो दृढा, दृढ़तरा भी
तथापि
प्राथमिक दशा में
साधना के क्षेत्र मे
स्खलन की सम्भावना
पूरी बनी रहती है, बेटा !
स्वस्थ-प्रौढ पुरुष भी क्यों न हो
काई-लगे पाषाण पर
पद फिसलता ही है !

इतना ही नहीं,
निरन्तर अभ्यास के बाद भी
स्खलन सम्भव है;
प्रतिदिन—बरसो से
रोटी बनाता-खाता आया हो वह
तथापि
पाक-शास्त्री की पहली रोटी
करड़ी क्यों बनती, बेटा !
इसीलिए सुनो !
आयास से डरना नहीं
आलस्य करना नहीं !

कभी कभी
साधना के समय
ऐसी भी घाटियाँ

आ सकती है कि
थोडो-सी प्रतिकूलता मे
जिसकी समता वह
आकाश को चूमती थी
उसे भो
विषमता की नागिन
सूंघ सकती है…
और, वह राही
गुम-राह हो सकता है;
उसके मुख से फिर
गम-आह निकल सकती है।
ऐसी स्थिति में
बोधि की चिड़िया वह
फुर्र क्यों न कर जायेगी ?
क्रोध की बुढ़िया वह
गुर्र क्यों न कर जायेगी ?
साधना-स्खलित जीवन मे
अनर्थ के सिवा और क्या घटेगा ?

इसलिए
प्रतिकार की पारणा
छोड़नी होगी, बेटा !
अतिचार की धारणा
तोड़नी होगी, बेटा !
अन्यथा,
कालान्तर मे निश्चित
ये दोनों
आस्था की आराधना में
विराधना ही सिद्ध होंगी !

एक बात और कहनी है
कि

किसी कार्य को सम्पन्न करते समय
अनुकूलता की प्रतीक्षा करना
सही पुरुषार्थ नहीं है,
कारण कि
वह सब कुछ अभी
राग की भूमिका में ही घट रहा है,
और इससे
गति में शिथिलता आती है ।
इसी भाँति
प्रतिकूलता का प्रतिकार करना भी
प्रकारान्तर से
द्वेष को आहूत करना है,
और इससे
मति में कलिलता आती है ।

कभी-कभी
गति या प्रगति के अभाव में
आशा के पद ठण्डे पड़ते हैं,
धृति, साहस, उत्साह भी
आह भरते हैं,
मन खिन्न होता है
किन्तु
यह सब आस्थावान् पुरुष को
अभिशाप नहीं है,
वरन्
वरदान ही सिद्ध होते हैं
जो यमी, दमी
हरदम उद्यमी है ।

और, सुनो !
मीठे दही से ही नहीं,
खट्टे से भी

समुचित मन्थन हो
नवनीत का लाभ अवश्य होता है।

इसमे यही फलित हुआ
कि
संघर्षमय जीवन का
उपसंहार
नियमरूप से
हर्षमय होता है, धन्य !
इसीलिए तो
बार-बार स्मृति दिलाती हूँ
कि
टालने में नहीं
सती-सन्तों की
आज्ञा पालनें में ही
'पून का लक्षण पालने में'
यह सूक्ति
चरितार्थ होनी है, बेटा !"
और,
कुछ क्षणों तक
मौन छा जाता है।

□

अब ! मौन का भग होता है
माटी की ओर से—
भीगे भावों की अभिव्यंजना :
' इस सम्बोधन से
यह जीवन बोधित हो,
अभिभूत हुआ, माँ !
कुछ हलका-सा लगा

कुछ झलका-सा
अनुभूत हुआ, माँ !

बाहरी दृष्टि से
और
बाहरी सृष्टि से
अछूता-सा कुछ
भीतरी जगत को
छूता-सा लगा
अपूर्व अश्रुतपूर्व
यह मार्मिक कथन है, माँ !

प्रकृति और पुरुष के
सम्मिलन से
विकृति और कलुष के
संकुलन से
भीतर ही भीतर
सूक्ष्म-तम
तीसरी वस्तु की
जो रचना होती है,
दूरदर्शक यन्त्र से
दृष्ट नहीं होती वह,
समीचीन दूर-दृष्टि में
उतर कर आती है
यह कार्मिक-व्यथन है, माँ !

कर्मों का संश्लेषण होना,
आत्मा से फिर उनका
स्व-पर कारणवश
विश्लेषण होना,
ये दोनों कार्य
आत्मा की ही

ममता-समता-परिणति पर
आधारित हैं।
सो तुमने सुनाया
सुन लिया इसने
यह धार्मिक-मथन है, माँ!

चेतन की इस
सृजन-शीलता का
भान किसे है?
चेतन की इस
द्रवण-शीलता का
ज्ञान किसे है?
इसकी चर्चा भी
कौन करता है रुचि से?
कौन सुनता है मति से?
और
इसकी अर्चा के लिए
किसके पास समय है?
आस्था से रीता जीवन
यह चार्मिक वतन है, माँ!"

"वाह! धन्यवाद बेटा!
मेरे आशय, मेरे भाव
भीतर…तुम तक उतर गए।
अब मुझे कोई चिन्ता नहीं!
और
कल के प्रभात से
अपनी यात्रा का
सूत्र-पात करना है तुम्हे!
प्रभात में कुम्भकार आयेगा
पतित से पावन बनने,

समर्पण-भाव-समेत
उसके सुखद चरणों में
प्रणिपात करना है तुम्हें,
अपनी यात्रा का
सूत्र-पात करना है तुम्हें !
उसी के तत्त्वावधान में
तुम्हारा अग्रिम जीवन
स्वर्णिम बन दमकेगा।
परिश्रम नहीं करना है तुम्हें
परिश्रम वह करेगा;
उसके उपाश्रम में
उसकी सेवा-शिल्प-कला पर
अविचल-चितवन—
दृष्टि-पात करना है तुम्हें,
अपनी यात्रा का
सूत्र-पात करना है तुम्हें !
अपने-अपने कारणों से
ससुप्त-शक्तियाँ—
लहरों-सी व्यक्तियाँ,
दिन-रात, बस
ज्ञात करना है तुम्हे,
अपनी यात्रा का
सूत्र-पात करना है तुम्हें।"

□

चिन्तन-चर्चा से
दिन का समय
किसी भाँति कट गया
परन्तु !

रा··त्री···
लम्बी होती जा रही है।
धरती को
निद्रा ने घेर लिया
और
माटी को निद्रा
छूती तक नहीं।

करवटें बदल रही
प्रभात की प्रतीक्षा में।
तथापि,
माटी को रा··त्रि भी
प्रभात-सी लगती है:
दुःख की वेदना में
जब न्यूनता आती है
दुःख भी सुख-सा लगता है।
और यह
भावना का फल है—
उपयोग की बात··!

आखिर, वह घड़ी
आ ही गई
जिस पर
दृष्टि गड़ी थी
अनिमेष···अपलक··!
और
माटी ने
अवसर का स्वागत किया,
तुरन्त बोल पड़ी कि
"प्रभात कई देखे
किन्तु

आज-जैसा प्रभात
विगत में नहीं मिला
और
प्रभात आज का
काली रात्रि की पीठ पर
हलकी लाल स्याही से
कुछ लिखता-सा है, कि
यह अन्तिम रात है
और
यह आदिम प्रभात;
यह अन्तिम गात है
और
यह आदिम विराट !"

और, हर्षातिरेक से
उपहार के रूप में
कोमल कोंपलों की
हलकी आभा-घुली
हरिताभ की साड़ी
देता है रात को।
इसे पहन कर
जाती हुई वह
प्रभात को सम्मानित करती है
मन्द मुस्कान के साथ · !
भाई को बहन-सी।

इधर···सरिता में
लहरों का बहावा है,
चाँदी की आभा को

जीतती, उपहास करती-सी
अनगिन फूलों की
अनगिन मालायें
तैरती - तैरती
तट तक ··आ
समर्पित हो रही है
माटी के चरणों में,
सरिता से प्रेषित वे।

यह भी एक दुर्लभ
दर्शनीय दृश्य है
कि
सरिता-तट में
फेन का बहाना है
दधि छलकता है
मंगल-जनिका
हंसमुख कलशी
हाथ में लेकर
खड़े हैं
सरिता-तट वह···

और देखो ना !
तृण-बिन्दुओं के मिष
उल्लासवती सरिता-सी
धरती के कोमल केन्द्र में
करुणा की उमड़न है,
और उसके
अंग - अंग
एक अपूर्व पुलकन ले
डूब रहे हैं
स्वाभाविक नर्तन में !

आज !
ओस के कणों में
उल्लास - उमंग
हास - दमंग
होश नजर आ रहा है।

आज !
जोश के क्षणों में
प्रकाश - असंग
विकास अभंग
तोष नजर आ रहा है।

आज !
रोष के मनों मे
उदास - अनग
ले नाश का रंग
बेहोश नजर आ रहा है।

आज !
दोष के कणों मे
त्रास तड़पन - तंग
ह्रास का प्रसंग
और गुणों का
कोष नजर आ रहा है !

□

यात्रा का सूत्रपात है ना
आज…!
पथ के अथ पर
पहला पद पड़ता, है
इस पथिक का
और

पथ की इति पर
स्पन्दन-सा कुछ घटता है
हलचल मचती है वहाँ !

पथिक की
अहिंसक पगतली से
सप्रेषण - प्रवाहित होता है
विद्युत्सम युगपत्
और वह
स्वयं सफलता-श्री
पथ की इति पर
उठ खड़ी है
सादर सविनय—
पथिक की प्रतीक्षा मे
जो निराशता का पान कर
सोती हुई समय काट रही थी
युगों···युगों से ।

विचारों के ऐक्य से
आचारों के साम्य से
संप्रेषण में
निखार आता है,
वरना
विकार आता है !

बिना बिखराव
उपयोग की धारा का
दृढ़-तटों से संयत,
सरकन-शीला सरिता-सी
लक्ष्य की ओर बढ़ना ही
संप्रेषण का सही स्वरूप है

हाँ ! हाँ !! इस विषय मे
विशेष बात यह है कि
संप्रेष्य के प्रति
कभी भूलकर भी
अधिकार का भाव आना
सप्रेषण का दुरुपयोग है,
वह फलीभूत भी नहीं होता !
और,
सहकार का भाव आना
सदुपयोग है, सार्थक है।

सप्रेषण वह खाद है
जिससे, कि
सद्‌भावो की पौध
पुष्ट-सम्पुष्ट होती है
उल्लास-पाती है;
सप्रेषण वह स्वाद है;
जिससे कि
तत्त्वो का बोध
तुष्ट-सन्तुष्ट होता है
प्रकाश पाता है।

हाँ ! हाँ !!
इसे भी स्वीकारना होगा कि
प्राथमिक दशा में
संप्रेषण का साधन
कुछ भार-सा लगता है
निस्सार-सा लगता है
और
कुछ-कुछ मन मे
तनाव का वेदन भी होता है

परन्तु,
बाद की स्थिति
इससे विपरीत है।
कुशल लेखक को भी,
जो नई निबवाली
लेखनी ले लिखता है
लेखन के आदि में
खुरदरापन ही
अनुभूत होता है
परन्तु,
लिखते-लिखते
निब की घिसाई होती जाती
लेखन मे पूर्व की अपेक्षा
सफाई आती जाती
फिर तो···लेखनी
विचारों की अनुचरा होती ·
···होती
विचारों की सहचरी होती है;
अन्त-अन्त में···तो
जल में तैरती-सी
संवेदन करती है लेखनी ।
इसे यूँ कहें हम
यह सहज-रीत ही है

□

यह लो !
क्या ?
मंगल घटना का संकेत !

अचेत से सचेत हो
खेत से खेत, खेतसे खेत
वेग-समेत वेद-समेत
विस्फारित दृग-वाला
एक मृग
छलाँग भरता
पथ को लाँघ जाता है
सुदूर ··जा अन्तर्धान
··खो जाता है।

"बायें हिरण
दायें जाय—
लंका जीत
राम घर आय"
इस सूक्ति की स्मृति
ताजी हो आई
और
दूर··सुदूर··
माटी ने देखा—
घाटी में दिखे
कौन वह ?
परिचित है या अपरिचित !
अपनी ओर ही
बढते बढते
आ रहे वह
श्रमिक-चरण···
और
फूली नही समाती,
भोली माटी यह
घाटी की ओर हो
अपलक ताक रही है

भोर में ही
उसका मानस
विभोर हो आया, और

अब तो वे चरण
निकट-सन्निकट ही आ गये !
फैलाव घट रहा है
धीरे-धीरे दृश्य
सिमट-सिमट कर
घना होता आ रहा है
और
आकाशीय विशाल दृश्य भी
इसीलिए
शून्य होता जा रहा है
समीपस्थ इष्ट पर
दृष्टि टिकने से
अन्य सब लुप्त ही होते हैं।

लो ! धन्य !
पूरा का पूरा
एक चेहरा,
जो भरा है
अनन्य भावों से,
अदम्य चावों से
सामने आ
उभरा है !

जिसका भाल वह
बाल नहीं है
वृद्ध है, विशाल है
भाग्य का भण्डार !
सुनो ! जिसमें

तनाव का भार-विकार
कभी भी आश्रय नही पाता !

अविकल्पी है वह
दृढ-सकल्पी मानव
अर्थहीन जल्पन
अत्यल्प भी जिसे
रुचता नही कभी !

वह एक कुशल शिल्पी है !
उसका शिल्प
कण-कण के रूप में
बिखरी माटी को
नाना रूप प्रदान करता है।

सरकार उससे
कर नही माँगती
क्योंकि
इस शिल्प के कारण
चोरी के दोष से वह
सदा मुक्त रहता है।

अर्थ का अपव्यय तो
बहुत दूर
अर्थ का व्यय भी
यह शिल्प करता नही,
बिना अर्थ
शिल्पी को यह
अर्थवान् बना देता है,
युग के आदि से आज तक
इसने
अपनी संस्कृति को
विकृत नहीं बनाया

बिना दाग है यह शिल्प
और कुशल है यह शिल्पी।

युग के आदि मे
इसका नामकरण हुआ है
कुम्भकार !
'कु' यानी धरती
और
'भ' यानी भाग्य—
यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो
कुम्भकार कहलाता है।
यथार्थ में
प्रति-पदार्थ वह
स्वयं-कार होकर भी
यह उपचार हुआ है—
शिल्पी का नाम
कुम्भकार हुआ है।

□

हाँ ! अब शिल्पी ने
कार्य की शुरूआत में
ओंकार को नमन किया
और उसने
पहले से ही
अहंकार का वमन किया है

कर्तृत्व-बुद्धि से
मुड़ गया है वह
और

कर्तव्य-बुद्धि से
जुड़ गया है वह।
हाँ ! हाँ !!
यह मुड़न-जुड़न की क्रिया,
हे आर्य !
कार्य की निष्पत्ति तक
अनिवार्य होती है···!

□

अरे ! अरे ! यह क्या !
कौन-सा कर्तव्य है ?
किससे निर्दिष्ट है ?
किस मन्तव्य से
किया जा रहा है ?
सामने ही सामने
माटी के माथे पर
मार पड़ रही है
क्रूर - कठोर कुदाली से
खोदी जा रही है माटी।
माटी की मृदुता में
खोई जा रही है कुदाली !
क्या माटी की दया ने
कुदाली की अदया बुलाई है ?
क्या अदया और दया के बीच
घनिष्ट मित्रता है ?
यदि नहीं है···तो
माटी के मुख से
रुदन की आवाज क्यों नहीं आई ?
और

माटी के मुख पर
क्रुधन की साज क्यों नहीं छाई ?
क्या यह
राजसत्ता का राज़ तो नही है ?
लगता है, कि
कुछ अपवाद छोडकर
बाहरी क्रिया से
भीतरी जिया से
सही-सही साक्षात्कार
किया नही जा सकता।
और
गलत निर्णय दे
जिया नही जा सकता।
यूँ ही यह जीवन
शंका-प्रतिशंका करता
बलानुसार उत्तर देता
अरुक - अथक आगे-आगे
चलता ही जा रहा स्वयं
…कि

इधर…
भोली माटी
कुछ ना बोली
और
बोरी में भरी जा रही है…
बोरी के दोनों छोर बन्द हैं
बीचों-बीच मुख है
और
सावरणा - साभरणा
लज्जा का अनुभव करती,
नवविवाहिता तनूदरा
घूंघट में से झाँकती-सी…

बार-बार बस,
बोरी में से झांक रही है
माटी भोली !
सतियों को भी
यतियों को भी प्यारी है
यही प्राचीना परिपाटी।
इसके सामने
बन्धन-विरहित-शीला
नूतन-नवीना
इस युग की जीवन-लीला
कीमत कम पाती है।

तभी तो···
संवेदनशील शिल्पी ने
माटी से पूछा है
कि
"तामसिकता से···दूर
सात्विक गालों पर तेरे
घाव-से लगते हैं,
छेद-से लगते हैं,
सन्देह-सा हो रहा है
भेद जानना चाहता हूँ
यदि · कोई · बाधा···न · हो···तो·
बताओगी, चारु-शीले !"

कुछ क्षणों के लिए
माटी के सामने
अतीत लौट आता है
और
उत्तर के रूप मे
और कुछ नही
केवल···दीर्घ···श्वास !

उस दीर्घ श्वास ने ही
शिल्पी के सन्देह को
विदेह बना दिया
और
विश्वास को श्वास लेने हेतु
एक देह मिली।
फिर भी,
सही-सही अवधान नही हुआ
सही समाधान नही हुआ।
जिज्ञासा जीवित रही शिल्पी की।
इसको देखकर ही
·· माटी
अव्यक्त भावों को व्यक्त करती है
शब्दों का आलम्बन ले ·

"अमीरों की नही
गरीबो की बात है;
कोठी की नही
कुटिया की बात है

जो वर्षा-काल मे
थोडी-सी वर्षा मे
टप-टप करती है
और
उस टपकाव से
धरती मे छद पड़ते हैं,
फिर···तो···
इस जीवन-भर
रोना ही रोना हुआ है
दीन-हीन इन आँखो से
धाराप्रवाह···
अश्रु-धारा बह

इन गालों पर पड़ी है
ऐसी दशा में
गालों का सछिद्र होना
स्वाभाविक ही है
और
प्यार और पीड़ा के घावों में
अन्तर भी तो होता है,
रति और विरति के भाव
एक से होते हैं क्या ?"

माटी का इतिहास
माटी के मुख से सुन
शिल्पी सहज कह उठा
कि
वास्तविक जीवन यही है
सात्विक जीवन यही है
धन्य !

और,
यह भी एक अकाट्य नियम है
कि
अति के बिना
इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं
और
इति के बिना
अथ का दर्शन असम्भव !
अर्थ यह हुआ कि
पीड़ा की अति ही
पीड़ा की इति है
और
पीड़ा की इति ही
सुख का अथ है।

माटी को सांत्वना देते हुए
अभय की मुद्रा में
कुछेक पल
बीत गये शिल्पी के
और
उसका अपना साथी-सहयोगी
आहूत हुआ
अवैतनिक 'गदहा',
तनिक-सा वह भी
तन का वेतन लेता है
सब बन्धनों से मुक्त
घाटी में विचर रहा था जो।
कोई भी बन्धन
जिसे रुचते नहीं
मात्र बँधा हुआ है वह
स्वामी की आज्ञा से।
अपदा माटी को
स्वामी के उपाश्रम तक
ले जा रहा है
अपनी पुष्ट पीठ पर।

□

बीच पथ में
दृष्टि पड़ती है माटी की
गदहे की पीठ पर।
खुरदरी बोरी की रगड़ से
पीठ छिल रही है उसको
और
माटी के भीतर जा

और भीतर उतरती-सी
पीर मिल रही है।

माटी की पतली सत्ता
अनुक्षण अनुकम्पा से
सभीत हो हिल रही है।
बाहर-भीतर
मीत बनकर
प्रीत खिल रही है;
केवल क्षेत्रीय ही नही
भावों की निकटता भी
अत्यन्त अनिवार्य है
इस प्रतीति के लिए।
यहाँ पर
अचेत नही
चेतना की सचेत—
रीन मिल रही है।

भावो को निकटता
तन की दूरी को
पूरी मिटाती-सी।

और,
बोरी में से माटी
क्षण-क्षण
छन-छन कर
छिलन के छेदों में जा
मृदुतम मरहम
बनी जा रही है,
करुणा रस मे
सनी जा रही है।
इतना ही नहीं,

उस स्थान में
बोरी की रूखी स्पर्शा भी
घनी मृदुता में
डूबी जा रही है।
पर
इस पर भी
माटी के मुख पर
उदासी की सत्ता की परी है
परत्र प्रवास करने को
मना कर रही है।

माटी की इस स्थिति का
कारण यह है कि

इस छिलन में
इस जलन में
निमित्त कारण 'मैं ही हूँ'
यूँ जानकर
पश्चात्ताप की आग में
झुलसती-सी माटी।
और
उसे देखकर
वही पली
पड़ी-पड़ी
भीतरी अनुकम्पा को चैन कहाँ?
सहा नहीं गया उससे
रहा नही गया उससे
और वह
रोती-बिलखती
दृग-बिन्दुओं के मिष
स्वेद कणों के बहाने

बाहर आ
पूरी बोरी को
भिगोती-सी अनुकम्पा ।

इस विषय में किसी भाँति
हो नहीं सकता सशय, कि
विषयी सदा
विषय-कषायों को ही बनाता
अपना विषय ।
और
हृदय-वती आँखो में
दिवस हो या तमस्
चेतना का जीवन ही
झलक आता है,
भले ही वह जीवन
दया रहित हो
या दया सहित ।

और
दया का होना ही
जीव-विज्ञान का
सम्यक् परिचय है ।

परन्तु
पर पर दया करना
बहिर्दृष्टि-सा···मोह-मूढ़ता-सा···
स्व-परिचय से वंचित-सा···
अध्यात्म से दूर···
प्राय· लगता है

ऐसी एकान्त धारणा से
अध्यात्म की विराधना होती है ।

क्योंकि, सुनो !
स्व के साथ पर का
और
पर के साथ स्व का
ज्ञान होता ही है,
गौण-मुख्यता भले ही हो ।
चन्द्र-मण्डल को देखते हैं
नभ-मण्डल भी दीखता है ।
पर की दया करने से
स्व की याद आती है
और
स्व की याद ही
स्व-दया है
विलोम-रूप से भी
यही अर्थ निकलता है
या…द द…या…।

साथ ही साथ,
यह भी बात ज्ञात रहे
कि
वासना का विलास
मोह है,
दया का विकास
मोक्ष है—
एक जीवन को बुरी तरह
जलाती है
भयकर है, अंगार है !
एक जीवन को पूरी तरह
जिलाती है
शुभकर है, शृंगार है ।

हाँ ! हाँ !!
अधूरी दया-करुणा
मोह का अंश नहीं है
अपितु
आंशिक मोह का ध्वंस है ।

वासना की जीवन-परिधि
अचेतन है···तन है
दया-करुणा निरवधि है
करुणा का केन्द्र वह
सवेदन-धर्मा चेतन है
पीयूष का केतन है ।

करुणा की कर्णिका से
अविरल झरती है
समता की सौरभ-सुगन्ध,
ऐसी स्थिति में
कौन कहता है
कि
करुणा का वासना से सम्बन्ध है !

वह अन्ध ही होगा
विषयों का दास,
इन्द्रियों का चाकर,
और
मन का गुलाम
मदान्ध होगा कहीं !

माना,
प्रति पदार्थ
अपने प्रति
कारक ही होता है
परन्तु

पर के प्रति
उपकारक भी हो सकता है।
और
अपने प्रति
करण ही होता है
परन्तु
पर के प्रति
उपकरण भी हो सकता है,
तभी···तो
अन्धा नहीं वह गदहा
मदान्ध भी नहीं,
उसका भीतरी भाग
भीगा हुआ है समूचा।
बाहर आता है सहज
भावना भाता हुआ
भगवान् से प्रार्थना करता है
कि

मेरा नाम सार्थक हो प्रभो।
यानी
गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक
मैं सबके रोगों का हन्ता बनूं
···बस,
और कुछ वांछा नहीं
गद-हा ··गदहा···!

और यह क्या?
अनहोनी-सी कुछ
अनुभूत होती माटी को
विस्मय का पार नहीं रहा,

अतिशय का सार यही रहा
कि
भावना के फूल खिल गये
खिले फूल सब फल गये;
माटी के गाल
घाव-हीन हो
छेद-शून्य हो
···धुल गये !
आज सार्थक बना नाम
गद-हा··· गदहा··· धन्य !

दोनों की अनुकम्पा सहजा हैं
सहजा बहनें-सी···
लगती हैं ये,[1]
अनुजा···अग्रजा-सी नहीं
'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'
यह सूत्र-सूक्ति
चरितार्थ होती है इन दोनों में !
सब कुछ जीवन्त है यहाँ
जीवन ! चिरंजीवन !! संजीवन !!!

इस पर भी
अपनी लघुता की अभिव्यक्ति
करती हुई माटी की अनुकम्पा
कि
सपदा हो या अपदा
चेतन को अपना वाहन बना—
यात्रा करना
अधूरी अनुकम्पा की
दशा है यह, जो
रुचती नहीं इस जीवन को ।

और माटी
श्वास का शमन कर
अपने भार को लघु करती-सी…
उपाश्रम की ओर निहारती है
प्रतीक्षा की मुद्रा में।
रजत-पालकी में विराजती
पर, ऊबी-सी…
लज्जा-संकोचवती-सी
राजा की रानी यात्रा के समय
रनवास की ओर निहारती-सी !

यहाँ पर मिलता है
पूरा ऊपर उठा हुआ
सुकृत का सर।
और
माटी को प्राप्त हुआ है
प्रथम अवसर !

□

यह
उपाश्रम का परिसर है
यहाँ पर, कसकर
परिश्रम किया जाता है
निशि-वासर।
यहाँ पर
योग-शाला है
प्रयोग-शाला भी जोरदार !
जहाँ पर
शिल्पी से मिलता है
शिक्षण-प्रशिक्षण
क्षण प्रतिक्षण,

जिसका भीतरी जीवन पर
पड़ता है सीधा असर!

यहाँ पर
जीवन का 'निर्वाह' नही
'निर्माण' होता है
इतिहास साक्षी है इस बात का।

अधोमुखी जीवन
ऊर्ध्वमुखी हो
उन्नत बनता है,
हारा हुआ भी
बेसहारा जीवन
सहारा देनेवाला बनता है।
दर्शनार्थी वे
आदर्श पा जाते हैं, यहाँ पर।
इतिहास-सम्बन्धिनी
सदियों से उलझी समस्यायें
सहज सुलझनी जाती हैं
क्षण-भर की इस सगति से।
और,
अयाचित होकर भी
सरल-सरस संस्कृति के
संस्कारार्थी वे
परामर्श पा जाते हैं, यहाँ पर।
असि और मषि को भी
कृषि और ऋषि को भी
कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं
निस्वार्थी भी वे
आर्ष पा जाते हैं, यहाँ पर।

□

लो, अब उपाश्रम में
उतारी गई माटी कि
तुरन्त
बारीक तार वाली
चालनी लाई गई
और
माटी छानी जा रही है।
स्वयं शिल्पी
चालनी का चालक है।

वह
अपनी दयावती आँखों से
नीचे उतरी
निरी माटी का
दरश करता है
भाव-सहित हो।
शुभ हाथों से
खरी माटी का
परस करता है
चाव-सहित हो।
और
तन से मन से
हरष करता है
घाव-रहित हो।
अनायास फिर
वचन-विलास होता है
उसके मुख से, कि

"ऋजुता की यह
परम दशा है
और

मृदुता की यह
चरम यशा है
…धन्य !"

माटी का संशोधन हुआ,
माटी को सम्बोधन हुआ,
परन्तु,
निष्कासित कंकरों में
समुचित-सा अनुभूत
संक्रोधन हुआ।
तथापि सयत भाषा में
शिल्पी से निवेदन करते हैं
…वे कंकर, कि
"हमारा वियोगीकरण
माँ माटी से
किस कारण हो रहा है ?
अकारण ही !
क्या कोई कारण है ?"
इस पर तुरन्त
मृदु शब्दों में शिल्पी कहता है—

"मृदु माटी से
लघु जाति से
मेरा यह शिल्प
निखरता है
और
खर-काठी से
गुरु जाति से
वह अविलम्ब
बिखरता है।

दूसरी बात यह है
कि

संकर-दोष का
वारण करना था मुझे
सो
कंकर-कोष का
वारण किया।"
यह बात सुनकर
कंकर कुछ और
गरम हो जाते हैं
कंकरो के अधरों मे
विशेष स्पन्दन है
और
वचनों में पूर्व की अपेक्षा
उष्णता का अधिक अभिव्यंजन है।

"गात की हो या जात की,
एक ही बात है—
हममें और माटी में
समता-सदृशता है
विसदृशता तो दिखती नही !
तुम्हें दिखती है क्या शिल्पी जी !
तुम्हारी आँखों की
शल्य-चिकित्सा हुई है क्या ?

और
रही वर्ण की बात !
वर्णों से वर्णन क्या करें ?
वह भी समान है हम दोनों में
जो सामने है
कृष्ण जी का कृष्ण वर्ण है
कृष्ण वर्ण नही।

सुनते हो ?
कर्ण तो ठीक हैं तुम्हारे !
फिर वर्ण-संकर की
चर्चा कौन करे ?
सम-वर्ण शंकर की
करें हम अर्चा मौन !"
और…
ककर मौन हो जाते हैं।

इस पर भी शिल्पी का भाव
ताव नही पकडता
जरा-सा भी।
धरा-सा ही
सहज साम्य भाव
प्रस्तुत होता है उससे
कि

इस प्रसग से
वर्ण का आशय
न रग से है
न ही अग से
वरन्
चाल-चरण, ढंग से है।
यानी !
जिसे अपनाया है
उसे
जिसने अपनाया है
उसके अनुरूप
अपने गुण-धर्म—
…रूप-स्वरूप को
परिवर्तित करना होगा

वरना
वर्ण-सकर-दोष को
वरना होगा !
और
यह अनिवार्य होगा।

इस कथन से
वर्ण-लाभ का निषेध हुआ हो
ऐसी बात नहो है,
नीर की जाति न्यारी है
क्षीर की जाति न्यारी,
दोनों के
परस-रस-रग भी
परस्पर निरे-निरे है
और
यह सर्व-विदित है,
फिर भी
यथा-विधि, यथा-निधि
क्षीर में नीर मिलाते ही
नीर क्षीर बन जाना है।
और सुनो !
केवल
वर्ण-रंग की अपेक्षा
गाय का क्षीर भी धवल है
आक का क्षीर भी धवल है
दोनों ऊपर से विमल हैं
परन्तु
परस्पर उन्हें मिलाते ही
विकार उत्पन्न होता है—
क्षीर फट जाता है
पीर बन जाता है वह !

नीर का क्षीर बनना ही
वर्ण-लाभ है,
वरदान है।
और
क्षीर का फट जाना ही
वर्ण-संकर है
अभिशाप है
इससे यही फलित हुआ,
अलं विस्तरेण !

□

"अरे कंकरो !
माटी से मिलन तो हुआ
पर
माटी में मिले नहीं तुम !
माटी से छुवन तो हुआ
पर
माटी में घुले नहीं तुम !
इतना ही नहीं,
चलती चक्की में डालकर
तुम्हें पीसने पर भी
अपने गुण-धर्म
भूलते नहीं तुम !
भले ही
चूरण बनते, रेतिल,
माटी नहीं बनते तुम !

जल के सिंचन से
भीगते भी हो

परन्तु, भूलकर भी
फूलते नहीं तुम !
माटी सम
तुम में आती नमी नहीं
क्या यह तुम्हारी
है कमी नहीं ?

तुम में कहाँ है वह
जल-धारण करने की क्षमता ?
जलाशय में रह कर भी
युगों-युगों तक
नहीं बन सकते
जलाशय तुम !
मैं तुम्हें
हृदय-शून्य तो नहीं कहूँगा
परन्तु
पाषाण-हृदय अवश्य है तुम्हारा,
दूसरों का दु:ख-दर्द
देखकर भी
नहीं आ सकता कभी
जिसे पसीना
है ऐसा तुम्हारा
·· सोना !

फिर भी
ऋषि - सन्तों का
सदुपदेश - सदादेश
हमें यही मिला कि
पापी से नहीं
पाप से,
पंकज से नहीं

पंक से
घृणा करो।
अयि आर्य !
नर से
नारायण बनो
समयोचित कर कार्य।"

यूँ शिल्पी से
कड़वी घूँट-सी पीकर
दीनता भरी आँखों से
कंकर निहारते हैं
माटी की ओर अब।
और, माटी
स्वाधीनता-घुली आँखों से
ककरों की ओर मुड़ी, देखती है

माटी की शालीनता
कुछ देशना देती-सी…!
"महासत्ता-माँ की गवेषणा
समीचीना एषणा
और
संकीर्ण-सत्ता की विरेचना
अवश्य करनी है तुम्हें !
अर्थ यह हुआ—
लघुता का त्यजन ही
गुरुता का यजन ही
शुभ का सृजन है।
अपार सागर का पार
पा जाती है नाव
हो उसमें
छेद का अभाव भर !

फिर भी
कभी-कभी वह नाव
घबराती है
और वह घबराहट
न जल से है
न ही जल के गहराव से,
परन्तु
जल की तरल सत्ता के भाव से है
जो
जल की गहराई को छोड़कर
जल की लहराई में आकर
तैरता हुआ-सा…!
अध-डूबा
हिम का खण्ड है
मान का मापदण्ड।

वह सरलता का अवरोधक है
गरलता का उद्बोधक है
इतना ही नहीं,
तरलता का अति शोषक है
और
सघनता का परिपोषक !

न ही तैरना जानता है
और
न ही तैरना चाहता है
खेद की बात है, कि
तरण और तारक को
डुबोना चाहता है वह।
जल पर रहना चाहता है
पर,

जल में मिलकर नहीं,
जग को
जल के तल तक भेज कर
उस पर
ऊपर रहना चाहता है
जल में मिल कर नहीं…।
हे मानी, प्राणी !
पानी को तो देख,
और अब तो
पानी-पानी हो जा…!
हे प्रमाण प्रभो !
मान का अवमान कब हो ?"

और, माटी की
देशना की धारा अभी टूटी नहीं
क्योंकि अब
अभिधा से हटकर
व्यंजना की ओर गति है उसकी, कि

बीज का वपन किया है
जल का वर्षण हुआ है
बीज अंकुरित हुए हैं
और
कुछ ही दिनों में
फसल खड़ी हो लहलहाती—
बालवाली…अबला-सी…!
पर,
हिम ही नहीं
हिमानी - लहर भी
कुछ ही पलों में
उस पकी फसल को

जलाती है ज्वलन-सी।
जल जीवन देता है
हिम जीवन लेता है,
स्वभाव और विभाव मे
यही अन्तर है,
यही सन्तों का कहना है
जो
जग-जीवन-वेत्ता हैं।
इसमे यही फलित होता है
कि

भले ही
हिम की बाहरी त्वचा
शीतशीला हो
परन्तु, भीतर से
हिम में शीतलता नही रही अब !
उसमे ज्वलनशीलता
उदित हुई है अवश्य !
अन्यथा,
जिसे प्यास लगी हो
जिसका कण्ठ सूख रहा हो, और
जिसकी आँखे जल रही हों
वह
जल्दी-से-जल्दी
उन पीड़ाओं की मुक्ति के लिए
जल के बदले
हिम की डली खा लेता है
परन्तु, उलटी
कसकर प्यास बढ़ती है क्यों ?
नाक से नाकी निकलती है क्यों ?

यही तो विभाव की सफलता है,
और
स्वभाव-भाव की विकलता !

इतना होने पर भी
सागरीय जल-सत्ता
माँ - महासत्ता
हिमखण्ड को डुबोती नहीं
इसमें क्या राज़ है ?

लगता है,
माँ की ममता है वह
सन्तान के प्रति
वंश-अंश के प्रति
ऐसा कदम नहीं उठा सकती
…कभी भूलकर भी,
सब कुछ कष्ट-भार
अपने ऊपर ही उठा लेती है
और
भीतर-ही-भीतर
चुप्पी बिठा लेती है ।

"माना !
पृथक्-वाद का आविर्भाव होना
मान का ही फलदान है
साथ ही साथ
यह बात भी नकारी नहीं जा सकती
कि
मान का अत्यन्त बौना होना
मान का अवसान-सा लगता है
किन्तु,
भावी बहुमान हेतु

वह मान का
बोना यानी बवन भी हो सकता है !"

यूँ बीच में ही
कंकरों की ओर से
व्यंग्यात्मक तरंग आई
और
संग की संगति से अछूती
माटी के अंग को ही नहीं,
सीधी जाकर
अतरंग को भी छूती है
वह कंकरो की तरंग !
कि
तुरन्त ही,
"नही···नहीं ! धृष्टता हुई,
भूल क्षम्य हो माँ !
यह प्रसग
आपके विषय में घटित नही होता !"
और···
ककरों का दल रो पड़ा।
फिर, प्रार्थना के रूप मे—
"ओ मानातीत मार्दव-मूर्ति,
माटी माँ !
एक मन्त्र दो इसे
जिससे कि यह
हीरा बने
और खरा बने कचन-सा !"

कंकरों की प्रार्थना सुनकर
माटी की मुस्कान मुखरित हुई :
"संयम की राह चलो

राह बनना ही तो
हीरा बनना है,
स्वय राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है—
रा·· ही···ही· ·रा
और
इतना कठोर बनना होगा
कि
तन और मन को
तप की आग में
तपा-तपा कर
जला-जला कर
राख करना होगा
यतना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन-आत्मा
खरा उतरेगा।
खरा शब्द भी स्वयं
विलोमरूप से कह रहा है—
राख बनें बिना
खरा-दर्शन कहाँ ?
रा · ख···ख···रा ··
आशीष के हाथ उठाती-सी
माटी की मुद्रा
उदार समुद्रा।

□

आज माटी का
बस फुलाना है
पात्र से, परन्तु अनुपात

जल मिलाकर
उसे घुलाना है।
आज माटी को
बस फुलाना है,

क्रमशः
कम-कम कर
बीते क्षणों को
पुराने-पनों को
बस, भुलाना है,
आज माटी को
बस, फुलाना है।
और उसके कण-कण में
क्षण-क्षण में
नव-नूतनपन
बस, बुलाना है
आज माटी को
बस, फुलाना है।

इसी कार्य हेतु
प्रागण में कूप है
कूप पर खडा है कुम्भकार
कर में थी बालटी—
भँवर कडी-दार,
उसे नीचे रखना है
और
उलझी रस्सी को
सुलझा रहा है।
झट-सी वह सुलझती भी
पर,
सुलझाते - सुलझाते

रस्सी के बीचोंबीच
एक गाँठ आ पड़ी···
कसी गाँठ है वह ।

खोलना अनिवार्य है उसका
और
आयाम प्रारम्भ हुआ शिल्पी का ।
हाथ के दोनों अँगूठों में
दोनों तर्जनियों मे
पूरी शक्ति लाकर
केन्द्रित करता है वह,
श्वास रुकता है
बाहर का बाहर, भीतर का भीतर !

लो ! कुम्भक प्राणायाम
अपने आप घटित हुआ ।
होठों को चबाती-सी मुद्रा,
दोनों बाहुओं में
नसों का जाल वह
तनाव पकड़ रहा है,
त्वचा में उभार-सा आया है
पर,
गाँठ खुल नही रही है ।
अंगूठों का बल
घट गया है,
दोनों तर्जनी
लगभग शून्य होने को हैं,
और नाखून
खूनदार हो उठे हैं
पर गाँठ खुल नहीं रही है !

इसी बीच
"सेवक को सेवा देकर
उपकृत करो, स्वामिन् !"
यूँ दाँतों का दल
शिल्पी से कह उठा
और
"यह समयोचित है स्वामिन् !
हमने यही नीति सुनी है
कि
बात का प्रभाव जब
बल-हीन होता है
हाथ का प्रयोग तब
कार्य करता है।
और
हाथ का प्रयोग जब
बल-हीन होता है
हथियार का प्रयोग तब
आर्य करता है।
इसलिए
निःशंक होकर दे दो रस्सी
इसे स्वामिन् !"
और
रस्सी प्रेषित होती दन्त पंक्ति-तक
कि
तुरन्त
शूल का दाँत सब दाँतों से
कह उठा कि
"हे भ्रात !
इस गाँठ में

सन्धि-स्थान की गवेषणा
तुम नहीं कर सकते !"

और,
दाहिनी ओर का
निचला शूल
गाँठ का निरीक्षण करता है
चारों ओर से सर्वांगीण
और अविलम्ब
उस सन्धि की गहराई में
स्वयं को अवगाहित करता है,
दाहिनी ओर के
उपरिल शूल का सहयोग ले ।
दोनों शूलों के चूल
परस्पर मिल जाते है
और
उनके सबल मूल
परस्पर बल पाते हैं

फिर भी ! इस पर भी !!
गाँठ का खुलना तो दूर,
वह हिलती तक नहीं
प्रत्युत,
शूलों के मूल ही
लगभग हिलने को है
और
शूलों की चूलिकाएँ
टूटने —भंग होने को हैं ।

लो ! मार्दव मसूड़े तो
इस संघर्ष में
छिल-छुल गये हैं

उनमें से मांस
बाहर झाँकने को है।

घटती इस घटना को
देखकर रसना भी
उत्तेजित हो बोल उठी
कि
"ओरी रस्सी !
मेरी और तेरी
नामराशि एक ही है
परन्तु
आज तू
रस-सी नहीं,
निरी नीरस लग रही है
सीधी - सादी
थी अब तक
दादी, दीदी-सी
मानी जाती थी
उदारा अनूदरा-सी,
अब सरला नहीं रही तू !
घनी गठीली बनी है
और
घनी हठीली बनी है।

हठ छोड़ कर
गाँठ को ढीली छोड़ !
अन्यथा
पश्चात्ताप हाथ लगेगा तुझे
चन्द पलों में जब
अविभाज्य जीवन तेरा
विभाजित होगा दो भागों में…!"

और
इस निन्द्य कार्य के प्रति
छी···छी··
थू· ·थू···कह
धिक्कारती-सी रसना
गाँठ के सन्धि-स्थान पर
लार छोड़ती है।
परिणाम यह हुआ कि
रस्सी हिल उठी
अपने भयावह भविष्य से !
और, कुछ ही पलों में
गाँठ भीगी,
नरमाई आई उसमें
ढीली पड़ी वह।
फिर क्या पूछो !
दाँतो मे गरमाई आई
सफलता को देखकर !
उपरले और निचले
सामने के सभी दाँत
तुरन्त गाँठ खोल देते हैं।

□

अब रस्सी पूछती है रसना से
जिज्ञासा का भाव ले—
कि
"आपके स्वामी को क्या बाधा थी
इस गाँठ से ?"
सो रसना रहस्य खोलती है :
"सुन री रस्सी !

मेरे स्वामी संयमी हैं
हिंसा से भयभीत,
और
अहिंसा ही जीवन है उनका।
उनका कहना है
कि
संयम के बिना आदमी नहीं
यानी
आदमी वही है
जो यथा-योग्य
सही आ…दमी है

हमारी उपास्य-देवता
अहिंसा है
और
जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही
हिंसा छलती है।
अर्थ यह हुआ कि
ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है
और

निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है,
पल-पल पनपती,
·· बल पाती है।

हम निर्ग्रन्थ-पन्थ के पथिक हैं
इसी पन्थ की हमारे यहाँ
चर्चा - अर्चा - प्रशंसा
सदा चलती रहती है।
यही जीवन इसी भाँति

यहीं से घटित
विजय हुआ
धन्य ···!

□

अब !
प्रासंगिक कार्य आगे बढ़ता है,
अग, अंग संस्कारित थे
सो···
संयम की शिक्षा का
संस्कार प्राप्त था जिन्हें
वे दोनों हाथ शिल्पी के
संयत हो उठे तुरन्त !
तभी वह शिल्पी
रस्सी से बाँध, बालटी को
धीमी गति से
नीचे उतारता है कूप में
जिससे कि
मछली आदिक
नाना जलचर जीवों का
घात टल सके
और
अपने आत्म-तत्त्व को
यहाँ और वहाँ
अब और तब
कर्म, कर्म-फल
सो···ना छल सके !

लो ! हाथों-हाथ
संकल्प फलीभूत होता-सा
स्वप्न को साकार देखने की
आस-भरी
मछली की शान्त आँखें
ऊपर देखती हैं।
उतरता हुआ यान-सा दिखा,
लिखा हुआ था उस पर
"धम्मो दया विसुद्धो"
तथा
"धम्मं सरणं गच्छामि"
ज्यों-ज्यों कूप मे
उतरती गई बालटी
त्यों-त्यो नीचे,
नीर की गहराई मे
झट-पट चले जाते
प्राण-रक्षण हेतु
मण्डूक आदिक अनगिन
जलीय-जन्तु।

किन्तु,
हलन-चलन-क्रिया मुक्त हो
अनिमेष-अपलक
निहारती है उतरती बालटी को
रसनाधीना रसलोलुपा
सारी मछलियाँ वे।
भोजन इससे कुछ तो मिलेगा
इस आशा से !

पर यह क्या ! वंचना… !
खाली बालटी देख कर

उसे
नूतन जाल-बन्धन समझ
सब मछलियाँ भागती भीति से।
मात्र संकल्पिता वह मछली
खड़ी है वहीं
साथ एक ही सखी है उसकी
और
उस सखी को कुछ कहती है वह :
"चल री चल !
इसी की शरण लें हम।
'धम्मो दया विसुद्धो'
यही एक मात्र है
अशरणों की शरण !
महा-आयतन है यह
यही हमारा जनन है
वरना,
निश्चित ही आज या कल
काल के गाल में कवलित होंगे हम !

क्या पता नहीं तुझको !
छोटी को बड़ी मछली
साबुत निगलती हैं यहाँ
और

सहधर्मी सजाति में ही
वैर वैमनस्क भाव
परस्पर देखे जाते हैं !
श्वान श्वान को देख कर ही
नाखूनों से धरती को खोदता हुआ
गुर्राता है बुरी तरह।"

अब इस पर
उसकी सखी बोलती है—
कथंचित् बात सच है तुम्हारी,
परन्तु
हमारे भक्षण से
अपनी ही जाति यदि
पुष्ट-सन्तुष्ट होती है
तो वह इष्ट है क्योंकि
अन्त समय में
अपनी ही जाति काम आती है
शेष सब दर्शक रहते हैं
दार्शनिक बन कर !
और
विजाति का क्या विश्वास ?
आज श्वास-श्वास पर
विश्वास का श्वास घुटता-सा
देखा जा रहा है…प्रत्यक्ष !
और सुनो !
बाहरी लिखावट-सी
भीतरी लिखावट
माल मिल जाये,
फिर कहना ही क्या !
यहाँ…तो
'मुँह में राम
बगल में छुरी'
बगुलाई छलती है।

दया का कथन निरा है
और
दया का वतन निरा है

आगे-आगे भी चलता रहे
बस !
और कोई वाँछा नहीं।
और तुमने
कठिन-कठोर गाँठ
पाल रक्खी थी
उसे खोले बिना
भरी बालटी को
कूप से ऊपर निकालते समय
जब वह गाँठ गिर्री पर
आ गिरेगी,
नियम रूप से
बालटी का सन्तुलन
बिगड जायेगा।
और तब—
रस्सी गिर्री में फँसेगी।
परिणाम-स्वरूप
बालटी का बहुत कुछ जल
उछलकर पुन:
कूप में जा गिरेगा
उस जल मे रहते अनेक जलचर जीव
लगी चोट के कारण
अकाल में ही मरेंगे,
इस दोष के स्वामी
मेरे स्वामी कैसे बन सकते हैं ?
इसीलिए गाँठ का खोलना
आवश्यक ही नही
अनिवार्य रहा।
समझी बात !

ओरी रस्सी !!
बावली कहीं की !
मेरी आली !

☐

इधर यह क्या हुआ ?
स्निग्ध-स्मित मतिवाली
काया की छाया, शिल्पी की
सुदूर कूप में
स्वच्छ जल में
स्वच्छन्द तैरती—
मछली पर जा गिरी।
मछली की मूर्च्छा
ऊपर हो उठी,
और
उसकी मानस-स्थिति भी
ऊर्ध्वमुखी हो आई,
परन्तु
उपरिल - काया तक
मेरी काया यह
कैसे उठ सकेगी ?
यही चिन्ता है मछली को !
काया जड़ है ना !
जड़ को सहारा अपेक्षित है,
और वह भी जंगम का।

और सुनो !
काया से ही माया पली है
माया से भावित-प्रभावित
मति मेरी यह…।

मति सन्मति हो सकती है
माया उपेक्षित हो · तो···

अन्ध-कूप में पड़ी हूँ मैं
कुरूपता की अनुभूति से
कूप-मण्डूक-सी···
स्थिति है मेरी।
गति, मति और स्थिति
सारी विकृत हुई हैं
स्वरूप-स्वभाव ज्ञात कैसे हो ?
ऊपर से प्रेषित हो
मुझ तक
एक किरण भी तो नहीं आती।
और,
मछली के मुख से निकल पड़ी
दीनता-घुली ध्वनि
कि
इस अन्ध-कूप से
निकालो इसे कोई
उस हंस रूप से
मिला लो इसे कोई

इस रुदन को कोई
सुनता भी तो नहीं
अरे कान वालो !···सब
बहरे हो गये हैं क्या ?

यह रुदन,
अरण्य-रोदन ही रहा
ऐसा सोच, पुन·
विकल्पों में डूबती है मछली
और उस डूबन में

एक किरण मिल जाती उसे
कि
"सार-हीन विकल्पों से
जीने की आशा को
विष ही मिल जाता है
खाने के लिए'
और,
चिर-काल से सोती
कार्य करने की सार्थक क्षमता
धैर्य-धृति वह
खोलती है अपनी आँख
दृढ-संकल्प की गोद में ही।"
बस
कृत-संकल्पिता हुई मछली
ऊपर भूपर आने को।

नश्वर प्राणों की
आस भाग चली
ईश्वर प्राणों की
प्यास जाग चली
मछली के घट में!

फिर
फिर क्या?
जड़-भूत जल का प्यार
निराधार कब तक टिकेगा?
वह भी पल में हुआ पलायित
छू ''मन्तर कहीं।
अभय का निलय मिला
सभय का विलय हुआ
मछली के जीवन में

मोह की मात्रा
…विफल हो
धर्म की विजय हो
कर्म का विलय हो
जय हो, जय हो
जय-जय-जय हो !"

लो ! समय निकट आ गया है,
बालटी वह यान-सम
ऊपर उठने को है
और
मगल-कामना मुखरित होती—
मछली के मुख से :
"यही मेरी कामना है
कि
आगामी छोरहीन काल मे
बस इस घट मे
काम ना रहे !"

इस शुभ यात्रा का
एक ही प्रयोजन है,
साम्य-समता हो
मेरा भोजन हो
सदोदिता सदोल्लसा
मेरी भावना हो,
दानव-तन पर
मानव-मन पर
हिंसा का प्रभाव ना हो,

दिवि में, भू में
भूगर्भों में

जिया-धर्म की
दया-धर्म की
प्रभावना हो···!

लबालब जल से
भरी हुई बालटी कूप से
ऊर्ध्व-गतिवाली होती है
अब
पतन-पाताल से
उत्थान-उत्ताल की ओर।
केवल देख रही है मछली,
जल का अभाव नहीं
बल का अभाव नहीं
तथापि
तैर नहीं रही मछली।
भूल-सी गई है तैरना वह,
स्पन्दन-हीन मतिवाली हुई है
स्वभाव का दर्शन हुआ, कि
क्रिया का अभाव हुआ-सा
लगता है अब ··!
अमन्द स्थितिवाली होती है वह !

बालटी वह अबाधित
ऊपर आई—भूपर
कूप का बन्धन
दूर हुआ मछली का;
सुनहरी है, सुख-झरी है
धूप का वन्दन···!

पूर हुआ वह सुख का
धूप की आभा से भावित हो
रूप का नन्दन वन।
धूल का समूह वह
सिंदूर हुआ मुख का
मछली की आँखें
अब दौड़ती हैं सीधी
उपाश्रम की ओर ··!
दिनकर ने अपनी अगना को
दिन-भर के लिए
भेजा है उपाश्रम की सेवा में,
और वह
आश्रम के अंग-अंग को
आँगन को चूमती-सी···
सेवानिरत-धूप · !

स्थूल है
रूपवती रूप-राशि है वह
पर पकड़ में नहीं आती।
छुवन से परे है वह
प्रभाकर को छोड़ कर
प्रभु के अनुरूप ही
सूक्ष्म स्पर्श से रीता
रूप हुआ है किसका ?
···धूप का
मानना होगा
यह परिणाम-भाव
उपाश्रम की छाँव का है
और

मछली की भूल का
भजन…
चूर हुआ दुःख का।

एक दृश्य दर्शित होता है
उपाश्रम के प्रांगण में ·
गुरुतम भाजन है,
जिसके मुख पर
वस्त्र बँधा है
साफ-सुथरा खादी का
दोहरा किया हुआ
और
उसी ओर बढ़ना है कुम्भकार
बालटी ले हाथ में।

बड़ी सावधानी से धार बाँध कर
जल छानता है वह
धीरे-धीरे जल छनता है,
इतने में ही
शिल्पी की दृष्टि
थोड़ी-सी फिसल जाती है अन्यत्र।

उछलने को मचलती-सी
यह मछली
बालटी में से उछलती है
और
जा कर गिरती है
माटी के पावन चरणों में…!
फिर
फूट-फूट कर रोती है
उसकी आँखें
संवेदना से भर आती हैं

एक में जीवन है
एक में ज़ीवन का अभिनय।
अब तो···
अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों
और कृपाणों पर भी
'दया-धर्म का मूल है'
लिखा मिलता है।
किन्तु,
कृपाण कृपालु नहीं हैं
वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण
हम में कृपा न !

कहाँ तक कहें अब !
धर्म का झण्डा भी
डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है
अवसर पाकर।
और
प्रभु-स्तुति में तत्पर
सुरीली बाँसुरी भी
बाँस बन पीट सकती है
प्रभु-पथ पर चलनेवालों को।
समय की बलिहारी है !"

सुनकर सखी की बात
मछली पुन: कहती है :
"यदि तुझे नहीं आना है, मत आ
परन्तु
उपदेश देकर
व्यर्थ में समय मत गँवा।"

और, सहेली के बिना
अकेली ही चल पडती मछली
सामयिक सूक्तियाँ छोडती हुई :

प्रत्येक व्यवधान का
सावधान होकर
सामना करना
नूतन अवधान को पाना है,
या यों कहें कि
अन्तिम समाधान को पाना है।

गुणों के साथ
अत्यन्त आवश्यक है
दोषों का बोध होना भी,
किन्तु
दोषों से द्वेष रखना
दोषों का विकसन है
और
गुणो का विनशन है;
काँटो से द्वेष रख कर
फूल की गन्ध-मकरन्द से
वंचित रहना
अज्ञता ही मानी है,
और
काँटो से अपना बचाव कर
सुरभि-सौरभ का सेवन करना
विज्ञता की निशानी है
सो…
विरलों मे ही मिलती है !

□

इधर…अधर से उतरी
बालटी में पानी
और
पानी में बालटी
पूर्ण रूप से दोनों
अवगाहित होते हैं,
मछली उसमें
प्रवेश पा जाती है
"धम्मं सरण पव्वज्जामि"
इस मन्त्र को भावित करती हुई
आस्था उसकी
और आश्वस्त होती जा रही है,
आत्मा उसकी
और स्वस्थ होती जा रही है।
इस धृति की काष्ठा को देख कर
इस मति की निष्ठा को देख कर
सारी-की-सारी मछलियाँ
विस्मित हो आईं
और
कुछ क्षणों के लिए
उनकी भीतियाँ
विस्मृत हो आईं।

सत्कार्य करने का
एक ने मन किया
दृढ़ प्रण किया
और
शेष सबने उसका
अनुमोदन किया।

एक भावित हुई
शेष प्रभावित हुईं
एक को दृष्टि मिली
दिशा सब पा गईं।

दया की शरण मिली
जिया में किरण खिली
और
सब-की-सब
उजली ज्योति से प्रकाशित हुईं
स्नात स्नपित हुईं
भीतर से भी, बाहर से भी
तत्काल !

□

इस अवसर पर
पूरा-पूरा परिवार आ
उपस्थित होता है
मुदित-मुखी वह।
तैरती हुई मछलियों से
उठती हुई तरल-तरंगें
तरंगों से घिरी मछलियाँ
ऐसी लगती हैं कि
सब के हाथों में
एक - एक फूल-माला है
और
सत्कार किया जा रहा है
महा मछली का,
नारे लग रहे हैं—
"मोक्ष की यात्रा
...सफल हो

और
वेदना से घिर आती हैं
एक साथ तत्काल
वे अपूर्वता की प्यासी हैं
प्रभु की दासी-सी
वरीयसी बनी हैं,
जिन आँखों से
छूट - छूट कर
माटी के चरणों को धोती हैं वे
उजली-उजली अश्रु की बूँदें…।

जिन बूँदों ने
क्षीर-सागर की पावनता
मूलतः हरी है
पीर-सागर की सावणता
चूलतः झरी है।

❑

यहाँ पर इस युग से
यह लेखनी पूछती है
कि
क्या इस समय मानवता
पूर्णत मरी है ?
क्या यहाँ पर दानवता
आ उभरी है ?
लग रहा है कि
मानवता से दानवता
कहीं चली गई है ?
और फिर

दानवता में दानवत्ता
पली ही कब थी वह ?

'वसुधैव कुटुम्बकम्'
इस व्यक्तित्व का दर्शन—
स्वाद - महसूस
इन आँखों को
सुलभ नही रहा अब···!
यदि वह सुलभ भी है
तो भारत में नहीं,
महा-भारत में देखो !
भारत में दर्शन स्वारथ का होता है ।

हाँ-हाँ !
इतना अवश्य परिवर्तन हुआ है
कि
"वसुधैव कुटुम्बकम्"
इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य
धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का ।

अब मछली कहती है माटी से—
"कुछ तुम भी कहो, माँ !
कुछ और खोल दो
इसी विषय को, माँ !"

सो मछली की प्रार्थना पर
माटी कुछ सार के रूप में कहती है—

"सुनो बेटा !
यही
कलियुग की सही पहचान है

जिसे
खरा भी अखरा है सदा
और
सत्-युग तू उसे मान
बुरा भी
'बूरा'- सा लगा है सदा।

पुनः बीच में ही
निवेदन करती है मछली
कि
विषय गहन होता जा रहा है
जरा सरल करो ना!
सो माँ कहती है
समझने का प्रयास करो, बेटा!
सत्-युग हो या कलियुग
बाहरी नहीं
भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही
सत्-युग है, बेटा!
और
असत्-विषयों में डूबी
आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि
स्वयं कलियुग है, बेटा!

कलि, काल समान है
अदय-निलय रहा
अति क्रूर होता है
और सत्
कलिका लता समान है
अतिशय सदय रहा है

मृदु-पूर होता है।
कलि की आँखों में
भ्रान्ति का तमस ही
गहराता है सदा
और
सत् की आँखों में
शान्ति का मानस ही
लहराता है सदा।

एक की दृष्टि
व्यष्टि की ओर
भाग रही है,
एक की दृष्टि
समष्टि की ओर
जाग रही है,
एक की सृष्टि
चला-चपला है
एक की सृष्टि
कला-अचला है

एक का जीवन
मृतक-सा लगता है
कान्तिमुक्त शव है,
एक का जीवन
अमृत-सा लगता है
कान्ति युक्त शिव है।
शव में आग लगाना होगा,
और
शिव में राग जगाना होगा।
समझी बात, बेटा !

"नासमझ थी, समझी बात, माँ !
उलझी थी, अब सुलझी, माँ !
अब पीने को
जल-तत्त्व की अपेक्षा नहीं;
अब जीने को
बल-सत्त्व की अपेक्षा नहीं
टूटा-फूटा
फटा हुआ यह जीवन
जुड़ जाय बस, किसी तरह
शाश्वत-सत् से,
···सातत्य चित्त से
बेजोड़ बन जाय, बस !
अब सीने को
सूई-सूत्र की अपेक्षा नहीं ।
जल में जनम लेकर भी
जलती रही यह मछली
जल से, जलचर जन्तुओं से
जड़ में शीतलता कहाँ, माँ,
चन्द पलों में
इन चरणों में जो पाई !
मलयाचल का चन्दन
और
चेतोहारिणी
चाँद की चमकती चाँदनी भी
चित्त से चली गई उछली-सी कहीं
मेरी स्पर्शा पर आज ।
हर्षा की वर्षा की है
तेरी शीतलता ने ।
माँ ! शीत-लता हो तुम !
साक्षात् शिवायनी !

तेरी गोद में ही
इसे
और बोध मिलेगा, माँ !
तेरी गोद में ही
फिर शोध चलेगा, माँ !
अगणित-गुणों के ओघ का।
और सुनो, माँ !
व्याधि से इतनी भीति नहीं इसे
जितनी आधि से है
और
आधि से इतनी भीति नहीं इसे
जितनी उपाधि से।
इसे उपधि की आवश्यकता है
उपाधि की नहीं, माँ !
इसे समधी - समाधि मिले, बस !
अवधि - प्रमादी नहीं।
उपधि यानी
उपकरण - उपकारक है ना !
उपाधि यानी
परिग्रह - अपकारक है ना !"

और मछली कहती है,
"इसलिए मुझे
सल्लेखना दो, माँ !
बोधि के बीज, सो
उल्लेखना दो, माँ !
मुझे देखने दो...
समाधि को बस देख सकूं !"

इस पर मुस्कान लेती हुई
माटी कहती है :

"सल्लेखना, यानी
काय और कषाय को
कृश करना होता है, बेटा !
काया को कृश करने से
कषाय का दम घुटता है,
    ···घुटना ही चाहिए ।
और,
काया को मिटाना नहीं,
मिटती-काया में
मिलती-माया में
म्लान-मुखी और मुदित-मुखी
नहीं होना ही
सही सल्लेखना है, अन्यथा
आतम का धन लुटता है, बेटा !

वातानुकूलता हो या न हो
बातानुकूलता हो या न हो
सुख या दुःख के लाभ में भी
भला छुपा हुआ रहता है,
देखने से दिखता है समता की आँखों से,
लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम रूप से कह रहा है—
ला···भ···भ ··ला

अन्त-अन्त में
यही कहना है बेटा !
कि
अपने जीवन-काल में
छली मछलियों-से
छली नहीं बनना
विषयों की लहरों में
भूल कर भी
मत चली बनना ?

और सुनो, बेटा
मासूम मछली रहना,
यही समाधि की जनी है"
और
माटी संकेत करती है शिल्पी को
कि
"इस भव्यात्मा को
कूप में पहुँचा दो
सुरक्षा के साथ अविलम्ब !
अन्यथा
इस का अवसान होगा,
दोष के भागी तुम बनोगे
असहनीय दुःख जिसका
फलदान होगा !"

जल छन गया है
और
जलीय जन्तु शेष बचे हैं वस्त्र में
उन्हें और मछली को
बालटी में शुद्ध जल डालकर
कूप में सुरक्षित पहुँचाता है
शिल्पी, पूर्ण सावधान होकर।

कूप में एक बार और
'दयाविसुद्धो धम्मो'
ध्वनि गूँजती है
और
ध्वनि से ध्वनि, प्रतिध्वनि
निकलती हुई दीवारों से
टकराती-टकराती ऊपर आ
उपाश्रम में लीन ··डूबती ··सी !

□

खण्ड : दो

शब्द सो बोध नहीं
बोध सो शोध नहीं
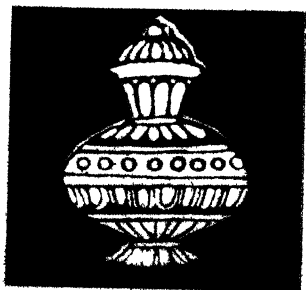
लो, अब शिल्पी
कुंकुम-सम मृदु माटी में
मात्रानुकूल मिलाता है
छना निर्मल-जल।
नूतन प्राण फूँक रहा है
माटी के जीवन में
करुणामय कण-कण में,

अलगाव से लगाव की ओर
एकीकरण का आविर्भाव
और
फूल रही है माटी।
जलतत्त्व का स्वभाव था—
वह बहाव
इस समय अनुभव कर रहा है ठहराव।
माटी के प्राणों में जा,
पानी ने वहाँ
नव-प्राण पाया है,
ज्ञानी के पदों में जा
अज्ञानी ने जहाँ
नव-ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली
अचिर को चिरता मिली
नव-नूतन परिवर्तन···!

उसके अंग पर है !
और वह पर्याप्त है उसे,
शीत का विकल्प समाप्त है।

फिर भी, लोकोपचार वश
कुछ कहती है माटी शिल्पी से
बाहर प्रांगण से ही--
"काया तो काया है
जड़ की छाया-माया ?
लगती है जाया-सी···
सो ·
कम से कम एक कम्बल तो ··
काया पर ले लो ना !
ताकि···और ··"
चुप हो जाती है माटी
तुरन्त · फिर
शिल्पी से कुछ सुनती है—

"कम बलवाले ही
कम्बलवाले होते हैं
और
काम के दास होते हैं।
हम बलवाले है
राम के दास होते है
और
राम के पास सोते हैं।
कम्बल का सम्बल
आवश्यक नहीं हमें
सस्ती सूती-चादर का ही
आदर करते हम !
दूसरी बात यह है कि

गरम धरमवाले ही
शीत-धरम से
भय-भीत होते हैं
और
नीत-करम से
विपरीत होते हैं।
मेरी प्रकृति शीत-शीला है
और
ऋतु की प्रकृति भी शीत-शीला है
दोनों में साम्य है
तभी तो अबाधित यह
चल रही अपनी मीत-लीला है।

स्वभाव से ही
प्रेम है हमारा
और
स्वभाव मे ही
क्षेम है हमारा।
पुरुष प्रकृति से
यदि दूर होगा
निश्चित ही वह
विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही
मोक्ष है, सार है।
और
अन्यत्र रमना ही
भ्रमना है
मोह है, संसार है...

और सुनो!
शमी-सन्तों से एक

सूत्र मिला है हमें कि—
केवल वह बाहरी
उद्यम-हीनता नहीं,
वरन्
मन के गुलाम मानव की
जो कामवृत्ति है
तामसता काय-रता है
वही सही मायने में
भीतरी कायरता है !

सुनो, सही सुनो
मनोयोग से !
अकाय में रत हो जा !
काय और कायरता
ये दोनों
अन्त-काल की गोद में विलीन हों
आगामी अनन्त काल के लिए !

□

फूल-दलों-सी
पूरी फूली माटी है
माटी का यह फूलन ही
चिकनाहट स्नेहिल-भाव का
आदिम रूप-मूलन है।
और
रूखेपन का, द्वेषिल-भाव का
अभाव रूप उन्मूलन है।

यह जो गति आई है माटी में
माटी ने जो किया

जल-पान का परिणाम है,
परन्तु
जल-धारण की क्षमता
कब उभरेगी इसमें ?
जब माटी में
चिकनाहट की प्रगति हो
और
अनल का पान करेगी यह।
माटी की चिकनाहट को
अपनी चूलिका तक पहुँचाने
शिल्पी का आना हो रहा है।

प्रभात की पावन वेला मे
माटी के हर्ष का पारनहीं
और
वही पर पड़ा-पडा
इस दृश्य का दर्शन करता एक कांटा
निशा के आँचल में से झाँकता
चकित चोर-सा !

माटी खोदने के अवसर पर
कुदाली की मार खा कर
जिसका सर अध-फटा है
जिसका कर अध-कटा है
दुबली पतली-सी…
कमर - कटि थी उसकी,
वही अब और कटी है,
जिधर की टाँग टूटी है
उधर की ही आँख फूटी है,
और
चपला अबला उमर पर भी

असर पड़ा है मार का
लगभग वह भी घटी है।
कहाँ तक कहें
काँटे की कँटीली काया
दिखती अब अटपटी-सी है।
इसमें सन्देह नहीं है, कि
प्राण उसके प्रायः कण्ठ-गत हैं
श्वास का विश्वास नहीं अब,
फिर भी
आसमान का आधार आस है ना !
तन का बल वह
कण-सा रहता है
और
मन का बल वह
मन-सा रहता है
यह एक अकाट्य नियम है।

हाँ ! यही यहाँ पर घट रहा है
कण्टक का तन सो पूर्णतः
ज्वर से घिरा है
फिर भी मिट नहीं रहा वह,
जी रहा है,
और उसका मन
मधुर ज्वार से भरा
रस पी रहा है,
इस पर
किसका चित्त चकित नहीं होगा ?
इस विस्मय का कारण भी सुनो !
मन को छल का सम्बल मिला है—
स्वभाव से ही मन चंचल होता है,
तथापि

इस मन का छल निश्चल है
मन माया की खान है ना !
बदला लेना ठान लिया है
शिल्पी से इसने।
शिल्पी को शल्य-पीड़ा देकर ही
इस मन को चैन मिलेगा
वैसे
मन वैर-भाव का निधान होता ही है।

मन की छाँव में ही
मान पनपता है
मन का माथा नमता नहीं
न-'मन' हो, तब कहीं
नमन हो 'समण' को
इसलिए मन यही कहता है सदा—
नम न ! नम न !! नम न !!!

बादल-दल पिघल जाये,
किसी भाँति ! काँटे का
बदले का भाव बदल जाये
इसी आशय से
माटी कुछ कहती है उससे :

"बदले का भाव वह दल-दल है
कि जिसमें
बड़े-बड़े बैल ही क्या,
बल-शाली गज-दल तक
बुरी तरह फंस जाते हैं
और
गल-कपोल तक
पूरी तरह धँस जाते हैं।

बदले का भाव वह अनल है
जो
जलाता है तन को भी, चेतन को भी
भव-भव तक !

बदले का भाव वह राहु है
जिसके
सुदीर्घ विकराल गाल में
छोटा-सा कवल बन
चेतनरूप भास्वत भानु भी
अपने अस्तित्व को खो देता है

और सुनो !
बाली से बदला लेना
ठान लिया था दशानन ने
फिर क्या मिला फल ?
तन का बल मथित हुआ
मन का बल व्यथित हुआ
और
यश का बल पतित हुआ
यही हुआ ना !
त्राहि मां ! त्राहि मां !! त्राहि मां !!!
यों चिल्लाता हुआ
राक्षस की ध्वनि में रो पड़ा
तभी उसका नाम
रावण पड़ा।"

"हाँ ! हाँ ! बस ! बस !
अधिक उपदेश से विराम हो, माँ !
मात्र दृष्टि में मत नाम हो, माँ !
गुणवत्ता काम की ओर भी
कुछ आयाम हो माँ, अब !

यहाँ आक्रमण हो रहा है
वहीं निकट में एक
गुलाब का पौधा खड़ा है
सुरभि से महकता।
और
ध्वनि गूंजती है सतेज
शूल-दलों की ओर से...
कि

इस बात को हम स्वीकारते हैं
कि
दूसरो की पीडा-शल्य में
हम निमित्त अवश्य हैं
इसी कारण हम शूल हैं
तथापि
सदा हमें शूल के रूप में ही देखना
बडी भूल है,
कभी कभी शूल भी
अधिक कोमल होते हैं
...फूल से भी
और
कभी कभी फूल भी
अधिक कठोर होते है
...शूल से भी।

मृदु-मांसल गालों से
हमें छू लेती है
फूलो पुष्पावली वह
इस कठिन चुभन से
उस मृदुता को कली-कली
खिल उठती है

एक अपूर्व सुख-शान्ति
संवेदित हो खेलती है उसमें ।

फिर तुम ही बताओ
हम शूल कहाँ रहे ?
वे फूल कहाँ रहे ?

उस वासना की क्रीड़ा ने
हम पर आक्रमण किया है,
हमारी उपासना को
बड़ी पीड़ा पहुँचाई है
फिर भी क्या वह फूल
शूल नहीं है ?
लगता है, कि
दृष्टि में कहीं धूल पड़ी है !

हमें अपने शील-स्वभाव से
च्युत करने का प्रयास करती हैं
ललित-लतायें ये…
हमसे आ लिपटती हैं
खुलकर आलिंगित होती हैं
तथापि
हम शूलों की शील-छवि
विगलित-विचलित नहीं होती,

नोकदार हमारे मुख पर आकर
अपने राग-पराग डालती हैं
तथापि
रागी नहीं बना पाती हमें
हम पर
दाग नहीं लगा पातीं वह ।

आशातीत इस नासा तक
अपनी सुरभि-सुगन्ध

प्रेषित करती रहतीं
पर, पर क्या
इस नासा में वह
कहाँ आस जगा पातीं !

विस्मित लोचन वाली
सस्मित अधरों वाली वह
इन लोचनों तक
कुछ मादकता, कुछ स्वादकता
सरपट सरकाती रहती हैं
हाव-भाव-भंगों में
नाच नाचती रहती हैं
हमारे सम्मुख सदा सलील !

प्रायः यही देखा गया है
कि
ललाम चाम वाले
वाम-चाल वाले होते हैं
बाहर से कुछ
विमल-कोमल रोम वाले होते हैं
और
भीतर से कुछ
समल कठोर कौम वाले होते हैं।

लोक-ख्याति तो यही है
कि
कामदेव का आयुध फूल होता है
और
महादेव का आयुध शूल।
एक में पराग है
सघन राग है
जिस का फल संसार है

एक में विराग है
अनघ त्याग है
जिसका फल भव-पार है।

एक औरों का दम लेता है
बदले में
मद भर देता है,
एक औरों में दम भर देता है
तत्काल फिर
निर्मद कर देता है।

दम सुख है, सुख का स्रोत
मद दुःख है, सुख की मौत !
तथापि
यह कैसी विडम्बना है,
कि
सब के मुख से फूलों की ही
प्रशंसा होती है,
और
शूलो की हिंसा !
क्या यह
सत्य पर आक्रमण नहीं है !

पश्चिमी सभ्यता
आक्रमण की निषेधिका नहीं है
अपितु !
आक्रमण-शीला गरीयसी है
जिसकी आँखों में
विनाश की लीला विभीषिका
घूरती रहती है सदा सदोदिता

और
महामना जिस ओर
अभिनिष्क्रमण कर गये

सब कुछ तज कर, वन गये
नग्न, अपने में मग्न बन गये
उसी ओर…
उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका
भारतीय संस्कृति है
सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।

शूलों की अर्चा होती है,
इसलिए
फूलों की चर्चा होती है।
फूल अर्चना की सामग्री अवश्य हैं
ईश के चरणो में समर्पित होते वह
परन्तु
फूलो को छूते नही भगवान्
शूल-धारी होकर भी।
काम को जलाया है प्रभु ने
तभी… तो…;
शरण-हीन हुए फूल
शरण की आस ले
प्रभू-चरणो में आते वह;

और सुनो !
प्रभु का पावन सम्पर्क पा
फूलों से विलोम परिणमन
शूलों में हुआ है
कहाँ से यहाँ तक
और
यहाँ से कहाँ तक ?
कब से अब तक
और
अब से कब तक ?

आदि, आदि···
सूक्ष्मातिसूक्ष्म
स्थान एवं समय की सूचना
सूचित होती रहती है
सहज ही शूलों में।
अन्यथा,
दिशा-सूचक यन्त्रों
और
समय-सूचक यन्त्रों—घड़ियों में
काँटे का अस्तित्व क्यों ?
यह बात भी हम नहीं भूलें,
कि—
धन-घमण्ड से भरे हुओं
की उद्दण्डता दूर करने
दण्ड-संहिता की व्यवस्था होती है
और
शास्ता की शासन-शय्या फूलवती नहीं
शूल-शीला हो,
अन्यथा,
राजसत्ता वह राजसता की
रानी—राजधानी बनेगी !
इसीलिए·· तो···
शिल्पी की ऐसी मति परिणति मे
परिवर्तन - गति वांछित है
सही दिशा की ओर···।
और
क्षत-विक्षत काँटा वह
पुनः कहता है—
शिल्पी कम-से-कम

इस भूल के लिए
शूल से क्षमा-याचना तो करें, माँ !"

□

अब माटी का सम्बोधन होता है:
"अरे सुनो !
कुम्भकार का स्वभाव-शील
कहाँ ज्ञात है तुम्हें ?
जो अपार अपरम्पार
क्षमा-सागर के उस पार को
पा चुका है
क्षमा की मूर्ति
क्षमा का अवतार है वह।"

इतने में ही
कोपाग्नि पी पचानेवाली
अनुकम्पा पीयूषभरी
वाणी निकली शिल्पी के मुख से,
जिसमें
धीर-गम्भीरता का पुट भी है—

खम्मामि, खमतु मे—
क्षमा करता हूँ सबको,
क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस
मैत्री रहे मेरी !
वैर किससे
क्यों और कब करूँ ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है
संसार-भर में मेरा वैरी !

विनयोपजीवी उस पुट ने—
कोटि-पुटी अभ्रक-सा
तन-वितान को पार कर
काँटे की सनातन चेतना को
प्रभावित किया।

उत्तुंग उँचाइयों तक
उठनेवाला ऊर्ध्वमुखी भी
ईंधन की विकलता के कारण
उलटा उतरता हुआ
अति उदासीन अनल सम
क्रोध-भाव का शमन हो रहा है।
पल - प्रतिपल
पाप-निधि का प्रतिनिधि बना
प्रतिशोध-भाव का वमन हो रहा है।
पल - प्रतिपल
पुण्य-निधि का प्रतिनिधि बना
बोध-भाव का आगमन हो रहा है,
और
अनुभूति का प्रतिनिधि बना
शोध-भाव को नमन हो रहा है
सहज - अनायास ! यहाँ !!

प्रकृत को ही और स्पष्ट
प्रकाशित करती-सी यह लेखनी भी
उद्यम-शीला होती है, कि
बोध के सिंचन बिना
शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि
शब्दों के पौधों पर
सुगन्ध मकरन्द-भरे

बोध के फूल कभी महकते नहीं,
फिर !
सवेद्य-स्वाद्य फलों के दल
दोलायित कहाँ और कब होंगे…?"

लो सुनो, मनोयोग से !
लेखनी सुनाती है :

बोध का फूल जब
ढलता-बदलता, जिसमे
वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।
बोध में आकुलता पलती है
शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से
तृप्ति का अनुभव होता है,
फूल का रक्षण हो
और
फल का भक्षण हो;
हाँ ! हाँ !!
फूल में भले ही गन्ध हो
पर, रस कहाँ उसमें !
फल तो रस से भरा होता ही है,
साथ-साथ
सुरभि से सुरभित भी…!

क्षत-विक्षत शूल का दिल
हिल उठा,
उसका काठिन्य गल उठा
शिल्पी के इस शिल्पन से
अश्रुत-पूर्व जल्पन से।

पश्चात्ताप के साथ कंटक कहता है
कि
"अहित में हित
और
हित में अहित
निहित-सा लगा इसे,
मूल-गम्य नहीं हुआ
चूल-रम्य नहीं लगा इसे
बड़ी भूल बन पड़ी इससे।
प्रतिकूल पद बढ़ गये
बहुत दूर···पीछे···
अनुकूल पथ रह गया
गन्ध को गन्दा कहा
चन्द को अन्धा कहा
पीयूष विष लगा इसे
भूल क्षम्य हो स्वामिन् !
इसे एक अच्छा मन्त्र दो,
परिणाम स्वरूप
आमूल जीवन इसका
प्रशम-पूर्ण शम्य हो
फिर, क्रमशः जीवन में
वह भी समय आये —
शरणागतों के लिए
अभय-पूर्ण शरण्य हो
परम नम्य हो वह भी।"
इस पर शिल्पी कहता है कि :
"मन्त्र न ही अच्छा होता है
ना ही बुरा
अच्छा, बुरा तो
अपना मन होता है

स्थिर मन ही वह
महामन्त्र होता है
और
अस्थिर मन ही
पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,
एक सुख का सोपान है
एक दुःख का सोपान है।"

पुनः शूल जिज्ञासा व्यक्त करता है
कि

"मोह क्या बला है
और
मोक्ष क्या कला है ?
इन की लक्षणा मिले, व्याख्या नहीं,
लक्षणा से ही दक्षिणा मिलती है।
लम्बी, गगन चूमती व्याख्या से
मूल का मूल्य कम होता है
सही मूल्यांकन गुम होता है।

मात्रानुकूल भले ही
दुग्ध में जल मिला लो
दुग्ध का माधुर्य कम होता है अवश्य !
जल का चातुर्य जम जाता है रसना पर !"

कण्टक की जिज्ञासा समाधान पाती है
शिल्पी के सम्बोधन से।
"अपने को छोड़कर
पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है
और
सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही

मोक्ष का धाम है।"
यह सुनकर तुरन्त !
धन्य हो ! धन्य हो !
कह उठा कण्टक पुनः

आज इसने
सही साहित्य-छाँव में
अपने आप को पाया है

झिल-मिल झिल-मिल
मुक्ता-मोती-सी लगती हैं
आपके मुख से निकलती
शब्द-पंक्तियाँ ये
लक्षणा का उपयोग-प्रयोग
विलक्षण है यह,
बहुतों से सुना, पर
बहुत कम सुनने को मिला यह।

और
व्यंजना भी आप की निरंजना-सी लगती है
विविध व्यंजन विस्मृत होते हैं।
यदि सुविधा हो,
बड़ी कृपा होगी,
उदार बन कर
अभिधा की विधा भी सुधारूं—
सुनाओ…तो…सुनूं स्वामिन् !
'साहित्य' शब्द पर हो तो
फिर कहना ही क्या,
सर्वोत्तम होगा सम-सामयिक !"

शिल्पी के शिल्पक-साँचे में
साहित्य शब्द ढलता-सा !

"हित से जो युक्त-समन्वित होता है
वह सहित माना है
और
सहित का भाव ही
साहित्य बाना है,
अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से
सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है
अन्यथा,
सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह
सार-शून्य शब्द-झुण्ड…!

इसे, यूँ भी कहा जा सकता है
कि
शान्ति का श्वास लेता
सार्थक जीवन ही
स्रष्टा है शाश्वत साहित्य का।
इस साहित्य को
आँखें भी पढ़ सकती हैं
कान भी सुन सकते हैं
इस की सेवा हाथ भी कर सकते है
यह साहित्य जीवन्त है ना !"

इस बार…तो…काँटा
कान्ता-समागम से भी
कई गुना अधिक
आनन्द अनुभव करता है
फटा माथा होकर भी

साहित्य का मन्थन करता
मन्मथ-मथक बना वह
उसका माथा…!
साहित्य-रस में डूबा
भोर-विभोर हो
एक टाँग वाला, पर
नर्तन मे तत्पर है काँटा !

मन्द-मन्द हँसता-हँसता
उसका हंसा
एहसास कराता है शिल्पी को
कि
सदा-सदियों से हंसा तो जीता है
दोषों से रीता हो,
परन्तु सब की वह काया
पीड़ा पहुँचाती है सब को
इसीलिए लगता है, अन्त में इस
काया का दाह-संस्कार होता हो।
हे काया ! जल-जल कर अग्नि से,
कई बार राख, खाक हो कर भी
अभी भी जलाती रहती है आतम को
बार-बार जनम ले-ले कर !

□

इधर, यह लेखनी भी कह उठी
प्रासंगिक साहित्य-विषय पर, कि

लेखनी के धनी लेखक से
और
प्रवचन-कला-कुशल से भी

कई गुना अधिक
साहित्यिक रस को
आत्मसात् करता है
श्रद्धा से अभिभूत श्रोता जो।
प्रवचन-श्रवण-कला-कुशल है;
हंस-राजहंस सदृश
क्षीर-नीर-विवेक-शील !
यह समुचित है कि
रसोइया की रसना
रस-दार रसोई का
रसास्वादन कम कर पाती है।
क्योंकि,
प्रवचन-काल मे प्रवचनकार,
लेखन-काल में लेखक
दोनों लौट जाते हैं अतीत में।

उस समय प्रतीति में
न रस रहता है
न ही नीरसता की बात,
केवल कोरा टकराव रहता है
लगाव रहित अतीत से, बस !

□

शिल्पी का आगमन हो रहा है
माटी की ओर !
फूली माटी को रौंदना है
रौंद-रौंदकर उसे
लोंदा बनाना है
रौंदन क्रिया भी वह

हथेलियों से सम्भव नहीं
स्निग्धता की अधिकता
माटी में और लाना है ना !
गोंद बनाना है उसे
पगतलियों से ही सम्भव है यह
कारण कि
कर्तव्य के क्षेत्र में
कर प्रायः कायर बनता है
और
कर माँगता है कर
वह भी खुल कर !
इतना ही नहीं,
मानवत्ता से चिर जाता है
मानवता से गिर जाता है;

इससे विपरीत-शील है पाँव का
परिश्रम का कायल बना यह
पूरे का पूरा, परिश्रम कर
प्रायः घायल बनता है
और
पाँव नता से मिलता है
पावनता से खिलता है।

लो ! यकायक यह क्या घटने को…!
श्वास का सूरज वह
अस्ताचल की ओर सरकता-सा…
शिल्पी का दाहिना पद
चेतना से रहित हो रहा है
खून का बहाव था जिसमें
उसमें अब
खून का अभाव हो रहा है।

और
दूसरा पद कुछ पदों को कहता है
पद-पद पर प्रार्थना करता है प्रभु से
कि

पदाभिलाषी बनकर
पर पर पद-पात न करूँ,
उत्पात न करूँ,
कभी भी किसी जीवन को
पद-दलित नहीं करूँ, हे प्रभो !
हे प्रभो ! और यह
कैसे सम्भव हो सकता है ?
शान्ति की सत्ता-सती
माँ-माटी के माथे पर, पद-निक्षेप···!
क्षेम-कुशल-क्षेत्र पर
प्रलय की बरसात है यह ।
प्रेम-वत्सल शैल पर
अदय का पविपात है यह ।
सुख-शान्ति से
दूर नहीं करना है इस युग को
और
दु:ख-क्लान्ति से
चूर नहीं करना है।

□

माटी में उतावली की
लहर दौड़ आती है
स्थिति आवली की भी
जहर छोड़ जाती है
कि

यहाँ से अब आगे
क्या घटता है पता नहीं !
उस घटना का घटक वह
किस रूप में उभर आयेगा सामने
और
उस रूप में आया हुआ उभार वह
कब तक टिकेगा ?
उसका परिणाम क्रियात्मक होगा ?
यह सब भविष्य की गोद में है
परन्तु,
भवन-भूत-भविष्य-वेत्ता
भगवद्-बोध में बराबर भास्वत है।

माटी की वह मति
मन्दमुखी हो मौन में समाती है,
म्लान बना शिल्पी का मन भी
नमन करता है मौन को,
पदों को आज्ञा देने में
पूर्णतः असमर्थ रहा
और मन के संकेत पाये बिना
भला, मुख भी क्या कहे ?

इस पर रसना कह उठी कि
"अनुचित संकेत की अनुचरी
रसना ही
रसातल की राह रही है"
यानी ! जो जीव
अपनी जीभ जीतता है
दुःख रीतता है उसी का
सुख-मय जीवन बीतता है
चिरंजीव बनता वही

और
उसी की बनती वचनावली
स्व-पर-दुःख-निवारिणी
संजीवनी बटी…!

चलना, अनुचित चलना
और कुचलना—
ये तीन बातें है।
प्रसंग चल रहा है कुचलने का
कुचली जायेगी माँ माटी…!
फिर भला
क्या कहूँ, क्यों कहूँ
किस विधि कहूँ पदों को ?
और, गम्भीर होती है रसना।

महकती इस दुर्गन्ध को
शिल्पी की नासा ने भी
अपना भोजन बना लिया
तभी ··तो ··
माटी को कुचलने की
अनुमति प्रेषित नहीं करती वह
इस घृणित कार्य की निन्दा ही करती है,
और
थोड़ा-सा अपने को मरोड़ती,
फूलती-सी नासा
पदों का पूरा समर्थन करती है
कि
पदों का इस कार्य से विराम लेना
न्यायोचित है और पदोचित भी !

बाल-भानु की भाँति
विशाल-भाल की स्वर्णाभा को

कुन्दित-भंगित होती देख
शिल्पी की दोनों आँखें
अपनी ज्योति को
बहुत दूर···भीतर भेजती है
और द्वार बन्द कर लेती हैं।
इससे यही फलित हुआ कि
इस अवसर पर आँखों का
अनुपस्थित रहना ही
होनहार अनर्थ का असमर्थन है।
ये आँखें भी
बहुत दूरदर्शिनी हैं;
थोड़े में यूँ कहूँ
शिल्पी के अंग - अंग और उपांग
उत्तमांग तक
उसी पथ के पथिक बने हैं
जिस पथ के पथिक पद बने हैं।

माटी और शिल्पी
दोनों निहार रहे है उसे
उनके बीच में मौन जो खडा है
मौन से कौन वो बड़ा है?
मौन की मौनता गौण कराता हो
और
मौन गुनगुनाता है
उसे जो सुने, वही बड़ा है मौन से।

बोल की काया वह
अवधि से रची है ना!
ढोल की माया वह
परिधि से बची है ना!
परन्तु सुनो!

पोल की छाया की
अवधि सीमा कहाँ ?
वह
सबकी निधियों की निधि है
बोध की जाया-सी
सदियों से शुचि है ना !
माटी की ओर मौन मुड़ता है पहले
मोम समान
मौन गलता-पिघलता है
और
मुस्कान वाला मुख खुलता है उसका।
मृदु - मीठे मोदक-सम
समतामय शब्द-समूह
निकलता है उसके मुख से :

"ओ माँ माटी !
शिल्पी के विषय में तेरी भी
आस्था अस्थिर-सी लग रही है।
यह बात निश्चित है कि

जो खिसकती-सरकती है
सरिता कहलाती है
सो अस्थाई होती है।
और
सागर नहीं सरकता
सो स्थाई होता है
परन्तु,
सरिता सरकती सागर की ओर हो ना !
अन्यथा,
न सरिता रहे, न सागर !
यह सरकन ही सरिता की समिति है,

यह निरखन ही सरिता की प्रमिति है,
बस यही तो आस्था कहलाती है।
जब तक उसे चरण नहीं मिलते चलने को,
और
आस्था के बिना आचरण में
आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।
फिर,
आस्थावाली सक्रियता ही
निष्ठा कहलाती है,
यह बात भी ज्ञात रहे !

निगूढ़ निष्ठा से निकली
निशिगन्धा की निरी महक-सी
बाहरी-भीतरी वातावरण को
सुरभित करती जो
वही निष्ठा की फलवती
प्रतिष्ठा प्राणप्रतिष्ठा कहलाती है,
जन-जन भविजन के मन को
सहलाती - सुहाती है।

धीरे-धीरे प्रतिष्ठा का पात्र
फैलाव पाता जाता है
पराकाष्ठा की ओर जब
प्रतिष्ठा बढ़ती - बढ़ती
स्थिर हो जाती है जहाँ
वही तो समीचीना संस्था कहलाती है।
यूँ क्रम-क्रम से
'क्रम' बढ़ाती हुई
सही आस्था ही वह
निष्ठा-प्रतिष्ठाओं में से होती हुई
सच्चिदानन्द संस्था की

सदा - सदा के लिए'
क्रय - विक्रय से मुक्त
अव्यय अवस्था पाती है, माँ !"
और
मौन अपने में डूबता है।

"अरे मौन ! सुन ले जरा
कोरी आस्था की बात मत कर तू
आस्था से बात कर ले जरा!"
यूँ माटी की आस्था ने ललकारा
मौन को, जो सम्मुख खड़ा है।

"मैं पाप से मौन हूँ
तू आस्था से मौन,
पाप के अतिरिक्त—
सबसे रिक्त है तू !
आँखों की पकड़ में आशा आ सकती है
परन्तु
आस्था का दर्शन आस्था से ही सम्भव है
न आँखों से, न आशा से।

नींव की सृष्टि वह
पुण्यापुण्य से रची इस
चर्म-दृष्टि में नहीं
अपितु
आस्था की धर्म-दृष्टि में ही
उतर कर आ सकती है।"

बाहर आई आस्था माटी की वह
गहरी मति में लौटती हुई
मुड़कर मौन को निहारती-सी
थोड़ी लाल भी हो आई उसकी आँखें !

मौन को डराती हुई तरन्त
उसकी लाल आँखों पर
शिल्पी की नीली आँखें
नीलिमा छिड़काती पल-भर !

शिल्पी ने तन के पक्ष को
विपक्ष के रूप में देख,
दूसरे पक्ष चेतन को
सचेत किया, यह कह कर
कि
"तन, मन, वचन ये
बार-बार बहु बार मिले है,
और
प्राप्त स्थिति पूरी कर
तरलदार हो पिघले हैं,
मोह-मूढ़तावश
इन्हें हम गले लगाये
परन्तु खेद है,
पुरुष के साथ रह कर भी
पुरुष का साथ नही देते ये।

प्रकृति ने पुरुष को आज तक
कुछ भी नही दिया
यदि दिया भी है तो···
रस-भाग नहीं, खोखा दिया है
कोरा धोखा दिया है।

धोखा दिया ! धोखा ही सही
यूँ बार - बार कह, उसे भी
पुरुष ने आँखों के जल से
धो, खा दिया
और आज भी

पामर पुरुष मौका देख रहा है
कुछ अपूर्व पाने का प्रकृति से…!"

चेतन अब शिल्पी को
अपना आशय बताता है :

"वेतन वाले वतन को ओर
कम ध्यान दे पाते हैं
और
चेतन वाले तन की ओर
कब ध्यान दे पाते हैं ?
इसीलिए तो…
राजा का मरण वह
रण में हुआ करता है
प्रजा का रक्षण करते हुए,
और
महाराज का मरण वह
वन में हुआ करता है
ध्वजा का रक्षण करते हुए
जिस ध्वजा की छाँव में
सारी धरती जीवित है
सानन्द सुखमय श्वास स्वीकारती हुई !"

प्रकृति की आकृति मे
तुरन्त ही विकृति उदित हो आई
सुन कर अपनी कटु आलोचना
और
लोहिता क्षुभिता हो आई
उसकी लोहमयी लोचना !

प्रखर किरणावली फूटतीं जिनसे
जिस आलोक से उसका ललाट-तल
आलोकित हुआ, जिस पर
कुछ पंक्तियाँ लिखित हैं :

"प्रकृति नहीं, पाप-पुंज पुरुष है,
प्रकृति की संस्कृति-परम्परा
पर से पराभूत नहीं हुई,
अपितु
अपनेपन में तत्परा है।"

पुरुष को पुरुषार्थ के रूप में
कुछ उपदेश और !
"अपने से विपरीत पनो का पूर
पर को कदापि मत पकड़ो
सही - सही परखो उसे, हे पुरुष !

किसी विघ्न मन में
मत पाप रखो,
पर, खो उसे पल-भर
परखो पाप को भी
फिर जो भी निर्णीत हो,
हो अपना, लो, अपनालो उसे !

फिर
सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोष की पकड़,
ज्ञान का पदार्थ की ओर
ढुलक जाना ही
परम आर्त पीड़ा है,
और
ज्ञान में पदार्थों का
झलक आना ही—
परमार्थ क्रीड़ा है

एक दीनता के भेष में है
हार से लज्जित है,
एक स्वाधीनता के देश में है
सार से सज्जित है।

पुरुष की पिटाई प्रकृति ने की,
प्रकारान्तर से चेतन भी
उसकी चपेट में आया।

गुणी के ऊपर चोट करने पर
गुणों पर प्रभाव पड़ता ही है

"आघात मूल पर हो
द्रुम सूख जाता है,
दो मूल में सलिल तो···
पूरण फूलता है।"
सो ! शिल्पी का चेतन सचेत हो
स्व-पर कर्तव्य पर प्रकाश डालता-सा !

पुरुष का प्रकृति पर नहीं,
चेतन पर
चेतन का करण पर नहीं,
अन्त:करण—मन पर
मन का तन पर नहीं,
करण—गण पर
और
करण गण का पर पर नहीं,
तन पर
नियन्त्रण शासन हो सदा।
किन्तु
तन शासित ही हो
किसी का भी वह शासक-नियन्ता न हो,
भोग्य होने से !

और
सर्व-सर्वा शासक हो पुरुष
गुणों का समूह गुणी, संवेदक
भोक्ता होने से !

चेतन की क्रियावती शक्ति
जो बिना चेतन वाली है
सक्रिय होती है
चेतन की इस स्थिति को
अनुमति प्रेषित करती
शिल्पी के अधरों पर
स्मिति उभर आती है।

उपयोग का अन्तरंग ही
रंगीन ढंग वो
योगों में रंग लाता है
शिल्पी के अंग-अंग
चालक से चालित यन्त्र-सम
संचालित होते हैं
और सर्व-प्रथम
शिल्पी का दाहिना चरण
मंगलाचरण करता है
शनैः शनैः ऊपर उठता हुआ
फिर
माटी के माथे पर उतरता है।
चन्द्रमा की चाँदनी को तरसती
चतुरी चकवी सम,
शिल्पन-चरण का स्वागत करती माटी
अपना माथा ऊपर उठाती हुई।

उपरिल नीचे की ओर
निचली ऊपर की ओर

झट-पट झट-पट
उलटी-पलटी जाती माटी !

शिल्पी के पदों ने अनुभव किया
असम्भव को सम्भव किया—सम लगा,
लगा यह मृदुता का परस
पार पर परख रहा है
परम-पुरुष को कहीं
जो परस की पकड़ से परे है

यहाँ पर
मखमल मार्दव का मान
मरमिटा-सा लगा।
आम्र-मंजुल-मंजरी
कोमलतम कोंपलों की मसृणता
भूल चुकी अपनी अस्मिता यहाँ पर,
अपने उपहास को सहन नहीं करती
लज्जा के घूँघट में छुपी जा रही है,
और
कुछ-कुछ कोपवती हो आई है,
अन्यथा
उसकी बाहरी-पतली त्वचा
हलकी रक्तरंजिता लाल क्यों है ?

माटी की मृदुता, मोम की माँ
चुप रह न सकी
गुप रहस रह न सका
बोल पड़ी वह—
"चाहो, सुनो, सुनाती हूँ
कुछ सुनने-सुनाने की बातें :

उस सत्ता का
किस तरह
अतिशय बता दूँ
परिचय-पता दूँ तुम्हें !

जिन आँखों में
काजल-काली
करुणाई वह
छलक आई है,
कुछ सिखा रही है—
चेतन की तुम
पहचान करो···!
जिन-अधरों में
प्रांजल लाली
अरुणाई वह
झलक आई है,
कुछ दिला रही है—
समता का नित
अनुपान करो,
जिन गालों में
मांसल वाली
तरुणाई वह
ढुलक आई है,
कुछ बता रही है—
समुचित बल का
बलिदान करो···!

जिन बालों में
अलि-गुण हरिणी
कुटिलाई वह
भलक आई है
कुछ सुना रही है—

काया का मत
सम्मान करो···!
जिन-चरणों में
सादर आली
चरणाई वह
पुलक आई है
गुनगुना रही है—
पूरा चल कर
विश्राम करो···!

और सुनो !
ओर-छोर कहाँ उस सत्ता का ?
तीर-तट कहाँ गुरुमत्ता का ?
जो कुछ है प्रस्तुत है
अपार राशि की एक कणिका
बिन्दु की जलांजलि सिन्धु को
वह भी सिन्धु में रह कर ही।
यूँ कहती-कहती
मुदिता माटी की मृदुता
मौन का घूँघट मुख पर लेती !

□

'पूरा चल कर विश्राम करो !'
इस उक्ति ने
शिल्पी के चेतन को सचेत किया
और
मन को मथ डाला
पूरी स्फूर्ति आई तन में
जो शिथिल-श्लथ हो आया था।

रौंदन-क्रिया और गति पकड़ती है
माटी की गहराई में
डूबते हैं शिल्पी के पद आजानु !
पुरुष की पुष्ट पिंडरियों से
लिपटती हुई प्रकृति, माटी
सुगन्ध की प्यासी बनी
चन्दन तरु-लिपटी नागिन-सी···!

लिपटन की इस क्रिया से
महासत्ता माटी की बाहुओं से
फूट रहा वीर रस
और
पूछ रहा है शिल्पी से वह
कि
क्यों स्मरण किया गया है
इसे क्यों बाहर बुलाया गया है ?
वीरों से स्तुत यह
वीर रस प्रस्तुत है,
सदियों से वीर्य प्रदान किया है,
युग को इसने !

लो ! पी लो प्याला भर-भर कर
विजय की कामना पूर्ण हो तुम्हारी !
युग-वीर बनो ! महावीर बनो !
अक्षत-वीर्य बनो तुम !

अब शिल्पी का वीर्य बोलता है
···वीर रस में, कि
"तुम नशे में बोल रहे हो !
इस विषय में हमारा विश्वास
दृढ़तर बन चुका है,
कि—

वीर रस से तीर का मिलना
कभी सम्भव नहीं
और
पीर का मिटना
त्रिकाल असम्भव !

आग का योग पाता है
शीतल-जल भी,
शनैः शनैः
जलता-जलता,
उबलता भले ही।

किन्तु सुनो !
धधकती अग्नि को भी नियन्त्रित कर
बुझा सकता है उसे।

परन्तु,
वीर-रस के सेवन करने से
तुरन्त मानव-खून
खूब उबलने लगता है
काबू में आता नहीं वह
दूसरों को शान्त करना तो दूर,
शान्त माहौल भी खौलने लगता है
ज्वालामुखी-सम।
और
इसके सेवन से
उद्रेक-उद्दण्डता का अतिरेक
जीवन में उदित होता है,
पर पर अधिकार चलाने की भूख
इसी का परिणाम है।
बबूल के ठूँठ की भाँति
मान का मूल कड़ा होता है

और खड़ा होता है पर को नकारता
पर के मूल्य को अपने पदों दबाता है,
मान को धक्का लगते ही
वीर रस चिल्लाता है,
आपा भूलकर आग बबूला हो
पुराण-पुरुषों की परम्परा को ठुकराता है।

मनु की नीति मानव को मिली थी
उसका विस्मरण हुआ या मरण?
पहला पद वही हो—
मान का मनन जो
अगला पद सही हो
मान का हनन हो,
वह भी आमूल ! भूल न हो !"

वीर रस की अनुपयोगिता
और
उसके अनादर को देख
माटी की महासत्ता के अधरों से
फूटते-फिसलते हुए
हास्य-रस ने ठहाका मारा
शिल्पी की ओर :

"वीर रस का अपना इतिहास है
वीरों को उसका अहसास है
उसके उपहास का साहस मत करो तुम !
जो वीर नहीं हैं, अवीर हैं
उन पर क्या, उनकी तस्वीर पर भी
अवीर छिटकाया नहीं जाता !
हाँ, यह बात निराली है
जाते समय अर्थी पर सुला कर
भले ही छिटकाया जाता हो…

उनके इतिहास पर
न रोना बनता है, न हँसना !"
यूँ कहते-कहते हास्य रस ने
एक कहावत कह डाली
कहकहाहट के साथ—
'आधा भोजन कीजिए
दुगुणा पानी पीव ।
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी
वर्ष सवा सौ जीव !'

प्रसन्नता आसन्न भव्य की आली है
प्रसन्नता एक आश्रय, दिव्य डाली है
जिस पर···
गुणों के फूलों-फलों के दल
सदा-सदा दोलायित होते हैं ।

"ओरे हँसिया !
हँस-हँस कर वहस मत कर
हास्य रस की कीमत इतनी मत कर !
तेरे अभिमत पर हम सम्मत नहीं हैं,
हँसी की बात हम स्वीकार नहीं सकते
सत्य-तथ्य की भाँति किसी कीमत पर !"
शिल्पी ने यूँ फिर से कहा—

"खेद-भाव के विनाश हेतु
हास्य का राग आवश्यक भले ही हो
किन्तु वेद-भाव के विकास हेतु
हास्य का त्याग अनिवार्य है
हास्य भी कषाय है ना !

हँसन-शील
प्रायः उतावला होता है
कार्याकार्य का विवेक

गम्भीरता धीरता कहाँ उसमें ?
बालक-सम बावला होता है वह

तभी तो…!
स्थित-प्रज्ञ हँसते कहाँ ?
मोह-माया के जाल में
आत्म-विज्ञ फँसते कहाँ ?"

अपनी दाल नहीं गलती, लख कर
अपनी चाल नहीं चलती, परख कर
हास्य ने अपनी करवट बदल ली।
और
साथी का स्मरण किया, जो
महासत्ता माटी के भीतर, बहुत दूर
रहस-रसातल में उबलता
कराल-काला रौद्र रस
जग जाता है ज्वलनशील
हृदय-शून्य अदय-मूल्यवाला,

घटित घटना विदित हुई उसे
पित्त क्षुभित हुआ उसका
पित्त कुपित हुआ
भृकुटियाँ टेढ़ी तन गईं
आँख की पुतलियाँ
लाल-लाल तेजाबी बन गईं।

देखते-देखते गुब्बारे-सी
फड़फड़ाती लम्बी
नासा फूलती गई उसकी।

अगर बाती को अगरबाती का
योग नहीं मिलता तो…

बात दूसरी थी···अधूरी थी,
मगर बात पूरी हुई,
भीतर बराबर बारूद भरा हुआ था ही
फिर क्या पूछना !
नाक में से बाहर की ओर
सघन धूम-मिश्रित कोप की लपटें
लपलपाती लाली बहने लगी
अब वह नाक खतरनाक लगने लगी।
लगता है,
कोप की कोषिका नाक ही है
'नाक में दम कर रखा है' सबका
मनाक् भी सन्देह नहीं इसमें।

"सतो गुण के सत्त्व की
इति का यहाँ अवभासन हुआ
राजसी - तामसी की
अति का यहाँ अव भाषण हुआ"

अधिक परिचय मत दो—
निर्भीक हो शिल्पी ने कहा रौद्र से
सोम की सौम्य मुद्रा में :

"रुद्रता विकृति है विकार
समिट-शीला होती है,
भद्रता है प्रकृति का प्रकार
अमिट-लीला होती है।

और सुनो !
यह सूक्ति सुनी नहीं क्या !
'आमद कम खर्चा ज्यादा
लक्षण है मिट जाने का
कूबत कम गुस्सा ज्यादा
लक्षण है पिट जाने का'

बस, इसी बीच कुछ
उलटी स्थिति उभरती है
शिल्पी की मति बिगड़ती है,

भीतर से बाहर, बाहर से भीतर
एक साथ, सात-सात हाथ के
सात-सात हाथी आ-जा सकते
इतना बड़ा गुफा-सम
महासत्ता का महाभयानक
मुख खुला है
जिसकी दाढ़-जबाड़ में
सिंदूरी आँखोंवाला भय
बार-बार घूर रहा है बाहर,
जिसके मुख से अध-निकली लोहित रसना
लटक रही है
और
जिससे टपक रही है लार
लाल-लाल लहू की बूंदें-सी

अगम-अतल पाताल-सम
उस मुख में
दृष्टि फिसलती-फिसलती लुप्त हुई मेरी
पद फिसलते-फिसलते टिक गए
…तीर पर मेरे
और
प्राण निकलते-निकलते रुक गए
पीर पर मेरे।
आँखों में चक्कर आ गया
उसने मुझे देखा
…कुछ धुंधला-सा दिखा मुझे भी
वह भय! हाँ भय!! महाभय!!!

यूँ ! चिरर् चिरर् चिल्लाती
बचाओ···बचाओ···बचाओ !
इसकी रक्षा करो, क्या ··नहीं ?
बताओ स्वामिन् !"
और
शिल्पी की छाती से चिपकती
भीति से कँपती हुई शिल्पी की मति ।
तुरन्त,
मति के सिर पर फिरता है
अभय का हाथ शिल्पी का
बस इतना पर्याप्त !

हलकी-सी चेतना आती है
मति की पलकों में ।
और
हलकी-सी चपलता आती है
ललाट-तल पर पड़ी
मति की अलकों में ।

एक ओर अभय खड़ा है
एक ओर भय अड़ा है
और
बीच में
भयाभयवाली उभयवती
···खड़ी है मति
देखो···किस ओर झुकती सो
भय के चंगुल में जा फँसती है
या
अभय के मंगल में आ बसती है ।
कुछ ही क्षण व्यतीत हुए कि
अभया बनती है मति

पुरुष का प्रभाव पड़ा उस पर
...प्रभूत !
प्रकृति का प्रभाव आप दब गया
...अभूत।

□

लो ! रण को पीठ दिखा रहा है
वीर को अवीर के रूप में
रौद्र को रुग्ण-पीड़ित के रूप में
और
भय को भयभीत के रूप में
पाया !
इस अद्भुत घटना से
विस्मय को बहुत विस्मय हो आया।
उसके विशाल भाल में
ऊपर की ओर उठती हुई
लहरदार विस्मय की रेखाएँ उभरी,
कुछ पलों तक विस्मय की पलकें
अपलक रह गईं !
उस की वाणी मूक हो आई
और
मुख मन्द हो आई।
विस्मय की यह स्थिति देख
शृंगार-मुख का पानी भी
लगभग सूखने को है
और
विषय-रसिकों की सरस कथा
मयूख-अन्ध हो आई !

अन्धों विषयान्धों को
प्रकाश की गन्ध कब मिलेगी भगवन् ?
यूं दीर्घ-श्वास लेता शिल्पी।

फिर उभरे सम्बोधन के स्वर—

"जो अरस का रसिक रहा है
उसे रस में से रस आये कहाँ ?

जो अपरस का परस करता है
क्या वह परस का परस चाहेगा ?

और जो
सुरभि दुरभि से दूर रहा है
उस की नासा वह
किस सौरभ की उपासना करेगी ?

एक बात और—
तन मिलता है तन-धारी को
सुरूप या कुरूप,
सुरूप वाला रूप में और निखार
कुरूप वाला रूप में सुधार
लाने का प्रयास करता है
आभरण-आभूषणों शृंगारों से।
परन्तु
जिसे रूप की प्यास नहीं है,
अरूप की आस लगी हो
उसे क्या प्रयोजन जड़ शृंगारों से !

रस-रसायन की यह
ललक और चखन
पर-परायन की यह
परख और लखन
कब से चल रही है
यह उपासना वासना की ?

यह चेतना मेरी
जाया चाहती है,
दर्श में बदलाहट,
काम नहीं अब।
…राम मिले !

कितनी तपन है यह !
बाहर और भीतर
ज्वालामुखी हवायें ये !
जल-सी गई मेरी
काया चाहती है
स्पर्श में बदलाहट,
घाम नहीं अब,
…धाम मिले !

इन दिनों भीतरी आयाम भी
बहुत कुछ आगे बढ़ा है,

मनोज का ओज वह
कम तो हुआ है
तत्त्व का मनन-मथन
बहुत हुआ, चल भी रहा है।
अब
मन थकता-सा लगता है
तन रुकता-सा लगता है
अब झाग नहीं,
…पाग मिले !

मानता हूँ, इस कलिका में
सम्भावनायें अगणित हैं
किन्तु, यह कलिका
कली के रूप में कब तक रहेगी ?

इस की भीतरी संधि से
सुगन्धि कब फूटेगी वह ?
उस घट के दर्शन में
बाधक है यह घूँघट
अब राग नहीं,
··पराग मिले !

लो, और मिलता है शृंगार को
शिल्पी से सम्बोधन रूप धन--
"हे शृंगार !
स्वीकार करो या न करो
यह तथ्य है कि,
हर प्राणी सुख का प्यासा है
परन्तु,
रागी का लक्ष्य-बिन्दु अर्थ रहा है
और
त्यागी-विरागी का परमार्थ !
यह सूक्ष्म अभेद्य भेद-रेखा
बाहरी आदान-प्रदान पर
आधारित नही है,
भीतरी घटना है स्वाश्रित
अपने उपादान की देन !

सही अलंकार, सही शृंगार--
भीतर झाँको, आँको उसे हे शृंगार !"

शृंगार की कोमलता से पूछता यह :
"किसलय ये किसलिए
किस लय में गीत गाते हैं ?
किस वलय मे से आ
किस वलय में क्षीन जाते हैं ?
और
अन्त-अन्त में श्वास इनके

किस लय में रीत जाते हैं ?
किसलय ये किसलिए
किस लय में गीत गाते हैं ...?"
अर्थ और परमार्थ की सूक्ष्मता
कुछ और उजाले में लाई जाती है :

"अन्तिम भाग, बाल का भार भी
जिस तुला में तुलता है
वह कोयले की तुला नहीं साधारण-सी,
सोने की तुला कहलाती है असाधारण !
सोना तो तुलता है
सो...अतुलनीय नहीं है
और
तुला कभी तुलती नहीं है
सो...अतुलनीय रही है
परमार्थ तुलता नहीं कभी
अर्थ की तुला में
अर्थ को तुला बनाना
अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है
और
सभी अनर्थों के गर्त में
युग को ढकेलना है।
अर्थशास्त्री को क्या ज्ञात है यह अर्थ ?"

इस प्रसंग में 'स्वर' का
स्मरण तक नहीं हो सका
यूँ दबे-मुख से निकले
शृंगार के कुछ स्वर !
स्वर को भास्वर ईश्वर की उपमा मिली है।
"ईश्वर ने भी स्वर को अपनाया

स्वर के बिना स्वागत किस विध सम्भव है
शाश्वत भास्वत सुख का !

स्वर संगीत का प्राण है
संगीत सुख की रीढ़ है
और
सुख पाना ही सब का ध्येय
इस विषय में सन्देह को गेह कहाँ ?
निःसन्देह कह सकते हैं—
विदेह बनना हो·· तो
स्वर की देह को स्वीकारता देनी होगी
हे देहिन् ! हे शिल्पिन् !"

इस पर साफ-साफ कहना है
शिल्पी का साफ-सुथरा साफा
खादी का—
पुरुष और प्रकृति के संघर्ष से
खर-नश्वर प्रकृति से
उभरते हैं स्वर !
पर, परम पुरुष से नहीं।

दुःस्वर हो या सुस्वर
सारे स्वर नश्वर है।

भले ही अविनश्वर हों
ईश्वर परमेश्वर ये
परन्तु,
उनके स्वर तो नश्वर ही हैं !

श्रवण-सुख सो
स्वर में निहित क्यों न हो,
कुछ सीमा तक—प्राथमिक दशा मे
अविनश्वर सुख का बाह्य साधन
स्वर रहा हो

तथापि,
स्वर न ही ध्येय है, न उपादेय
स्वर न ही अमेय है, न सुधा-पेय
साधक यह जान ले भली-भाँति !"
और
चिन्तन की मुद्रा में डूबता है शिल्पी —

"ओ श्रवणा !
कितनी बार
श्रवण किया स्वर का
ओ मनोरमा !
कितनी बार
स्मरण किया स्वर का
कब से चल रहा है
संगीत - गीत यह
कितना काल अतीत में
व्यतीत हुआ, पता हो, बता दो…!
भीतरी भाग भीगे नहीं अभी तक
दोनों बहरे अंग रहे
कहाँ हुए हरे भरे
हे नीराग हरे !
अब बोल नहीं, माहौल मिले !

संगीत को सुख की रीढ़ कहकर
स्वयं की प्रशंसा मत करो
सही संगीत की हिंसा मत करो
रे शृंगार !

संगीत उसे मानता हूँ
जो संगातीत होता है
और
प्रीति उसे मानता हूँ

जो अंगातीत होती है
मेरा संगी संगीत है
सप्त-स्वरों से अतीत···!

श्रृंगार के अंग-अंग ये
खंग-उतार शील हैं
युग छलता जा रहा है
और
श्रृंगार के रंग-रंग ये
अंगार-शील हैं,
युग जलता जा रहा है,
इस अपाय का निवारक उपाय
··मिला इसे आज
अपूर्व पेय के रूप में !

तन का खेद टल कर
चूर होता है पल में
मन का भेद धुल कर
दूर होता है पल में
इस का पान करने से ।

मेरा संगी संगीत ह
समरस नारंगी-शीत है ।

किसी वय में बँध कर
रह सकूँ ! रहा नहीं जाता
और
किसी लय में सध कर
कह सकूँ ! कहा नहीं जाता ।

मेरा संगी संगीत है
मुक्त नंगी रीत है ।

अगर सागर की ओर
दृष्टि जाती है,
गुरु-गारव-सा
कल्प-काल वाला लगता है सागर;
अगर लहर की ओर
दृष्टि जाती है,
अल्प-काल वाला लगता है सागर।
एक ही वस्तु
अनेक भंगों में भंगायित है
अनेक रंगों में रंगायित है, तरंगायित !

मेरा संगी संगीत है
सप्त-भंगी रीत है।

सुख के बिन्दु से
ऊब गया था यह
दुःख के सिन्धु में
डूब गया था यह,
कभी हार से
सम्मान हुआ इसका,
कभी हार से
अपमान हुआ इसका।
कहीं कुछ मिलने का
लोभ मिला इसे,
कहीं कुछ मिटने का
क्षोभ मिला इसे,
कहीं सगा मिला, कही दगा,
भटकता रहा अभागा यह !
परन्तु आज,
यह सब वैषम्य मिट-से गये हैं
जब से·· मिला···यह

मेरा संगी संगीत है
स्वस्थ अंगी जीत है।

□

स्वर की नश्वरता
और सारहीनता सुन कर
शृंगार के बहाव में बहने वाली
नासा बहने लगी प्रकृति की।
कुछ गाढ़ा कुछ पतला
कुछ हरा, पीला मिला—
मल निकला, देखते ही हो घृणा !
जिस पर मक्षिकायें
जो राग की जनिकायें हैं
विषय की रसिकायें हैं
भिनभिनाने लगी···सो···
ऐसा लगता है कि
बीभत्स-रस ने भी
शृंगार को नकारा है
चुना नहीं उसे !
अन्यथा
सब की नासिका से
अनुनासिक···
नकारात्मक ही वर्ण क्यों निकलता है ?
उपरिल-अधर पर चिपकता हुआ
निचले अधर पर भी उतरता आया
वह मल !
और
शृंगार की रसना ने उसका स्वाद लिया
बड़े ही चाव से

जिसे देख कर
शृंगार की अज्ञता पर
सब रसों की मूल-जनिका स्रोतस्विनी
प्रकृति माँ कुपित हो आई
और
शृंगार के गालों पर
दो-चार चाटें दिये,
बाल-लाल के गाल ये
प्रवाल सम लाल हो आये

सुत को प्रसूत कर
विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करने मात्र से
माँ का सतीत्व वह
विश्रुत - सार्थक नहीं होता
प्रत्युत,
सुत-सन्तान की सुसुप्त शक्ति को
सचेत और
शत-प्रतिशत सशक्त—
साकार करना होता है, सत्-संस्कारों से।
सन्तो से यही श्रुति सुनी है।
सन्तान की अवनति मे
निग्रह का हाथ उठता है माँ का
और
सन्तान की उन्नति में
अनुग्रह का माथ उठता है माँ का
और यही हुआ—
प्रकृति माँ की आँखो में
रोती हुई करुणा,
बिन्दु-बिन्दु कर के
दग-बिन्दु के रूप में

करुणा कह रही है
कण-कण को कुछ :
"परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में
बहुत हुआ, वह गलत हुआ।
मिटाने-मिटने को क्यों तुले हो
इतने सयाने हो!
जुटे हो प्रलय कराने
विष से घुले हो तुम!
इस घटना से बुरी तरह
माँ घायल हो चुकी है
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का वृण सुखाओ!
सदय बनो!
अदय पर दया करो
अभय बनो!
सभय पर किया करो अभय की
अमृत-मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि
रे जिया, समष्टि जिया करो!
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ!
अपना ही न अंकन हो
पर का भी मूल्यांकन हो,
पर, इस बात पर भी ध्यान रहे
पर की कभी न वांछन हो
पर पर कभी न लांछन हो!
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का न मन दुखाओ!

जीवन-जगत् क्या ?
आशय समझो, आशा जीतो !
आशा ही को पाशा समझो"

फिर, गम्भीर हो कुछ और कहती माँ
करुणा—

"मेरे रोने से यदि
तुम्हारा मुख खिलता हो
सुख मिलता हो तुम्हें
लो ! मैं···रो···रही···हूँ···
और रो सकती हूँ

और
मेरे होने से यदि
तुम्हारा दिल धुक्-धुक् करता हो
हिलता हो, घबराहट से दुखता हो
लो, इस होने को खोना चाहूँगी,
चिरकाल तक सोना चाहूँगी,
प्रार्थना करती हूँ प्रभु से, कि
शीघ्रातिशीघ्र
मेरा होना मिट जाय
मेरा अस्तित्व अशेष-रूप से
शून्य में मिल जाय, बस !"

इस पर प्रभु फर्माते हैं कि
होने का मिटना सम्भव नहीं है, बेटा !
होना ही संघर्ष-समर का मीत है
होना ही हर्ष का अमर गीत है।

मैं क्षमा चाहती हूँ तुमसे
तुम्हारी कामना पूरी नहीं हो सकी
हे भोक्ता-पुरुष !

इससे इस लेखनी का गला भी
भर आता है, माँ का समर्थन करता हुआ—

"कभी किसी दशा पर
इस की आँखों में
करुणाई छलक आती है
और
कभी किसी दशा पर
इस की आँखों में
अरुणाई झलक आती है
क्या करूँ !
विश्व की विचित्रता पर
रोऊँ···या···हँसूँ···?

बिलखती इस लेखनी को
विश्व लखता तो है
इसे भरसक परखता भी है
ईश्वर पर विश्वास भी रखता है
और
ईश्वर का इस पर गहरा असर भी है
पर, इतनी ही कसर है कि
वह असर सर तक ही रहा है,
अन्यथा
सर के बल पर क्यों चल रहा है,
आज का मानव ?
इस के चरण अचल हो चुके हैं माँ !
आदिम ब्रह्मा आदिम तीर्थंकर
आदिनाथ से प्रदर्शित पथ का
आज अभाव नहीं है माँ !
परन्तु,
उस पावन पथ पर

दूब उग आई है खूब !
वर्षा के कारण नहीं,
चारित्र से दूर रह कर
केवल कथनी में करुणा रस घोल
धर्मामृत-वर्षा करने वालों की
भीड़ के कारण !

आज पथ दिखाने वालों को
पथ दिख नहीं रहा है, माँ !
कारण विदित ही है—
जिसे पथ दिखाया जा रहा है
वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,
औरों को चलाना चाहता है
और
इन चालक, चालकों की संख्या अनगिन है।

क्या करूँ ?
जो कुछ घट रहा है
लिखती हूँ उसे
उस का रस चखती हूँ
फिर बिलखती हूँ…
लिखती · हूँ…माँ !
लेखनी · जो रही…"

❑

शिल्पी को स्तब्ध देख
क्या करुणा की पालड़ी भी हलकी पड़ी ?
इतनी बाल की खाल तो मत निकालो—
कहती-कहती करुणा रो पड़ी !

इस पर शिल्पी कहता है :
"रोना करुणा का स्वभाव नहीं है,
बिना रोये करुणा का
प्रयोग भी सम्भव नहीं।
करुणा का होना
और
करुणा का करना
इन दोनों में अन्तर है,
तथापि
इतनी अति अच्छी नहीं लगती !

इस बात को मानता हूँ,
कि
बिना खाद-डले खेत की अपेक्षा
खाद-डले खेत की वह
फसल लहलहाती है,
परन्तु
खाद में बीज बोने पर तो
फसल जलती - दहदहाती है।
हाँ, हाँ !!
अनुपात से खाद-जल दे दिया खेत को
बीज बिखेर दिये खेत में
फिर भी वे अंकुरित नहीं होते
माटी का हाथ उन पर नहीं होने से।
इतना ही नहीं,
जिन बीजों पर
माटी का भार-दबाव बहुत पड़ा हो
वे भी अंकुरित हो
नहीं आ सकते भू-पर
दम घुट जाता है उनका भीतर ही भीतर।

करुणा हेय नहीं,
करुणा की अपनी उपादेयता है
अपनी सीमा
फिर भी,
करुणा की सही स्थिति समझना है।

करुणा करने वाला
अहं का पोषक भले ही न बने,
परन्तु
स्वयं को गुरु-शिष्य
अवश्य समझता है
और
जिस पर करुणा की जा रही है वह
स्वयं को शिशु-शिष्य
अवश्य समझता है।
दोनों का मन द्रवीभूत होता है
शिष्य शरण लेकर
गुरु शरण देकर
कुछ अपूर्व अनुभव करते हैं।
पर इसे
सही सुख नहीं कह सकते हम।
दुख मिटने का
और
सुख-मिलने का द्वार खुला अवश्य,
फिर भी ये दोनों
दुःख को भूल जाते हैं इस घड़ी में!

करुणा करने वाला
अधोगामी तो नहीं होता,
किन्तु
अधोमुखी यानी—

बहिर्मुखी अवश्य होता है।
और
जिस पर करुणा की जा रही है, वह
अधोमुखी तो नहीं,
ऊर्ध्वमुखी अवश्य होता है।
तथापि,
ऊर्ध्वगामी होने का कोई नियम नहीं है।

करुणा की दो स्थितियाँ होती हैं—
एक विषय लोलुपिनी
दूसरी विषय-लोपिनी, दिशा-बोधिनी।
पहली की चर्चा यहाँ नहीं है
चर्चा-अर्चा दूसरी की है !
'इस करुणा का स्वाद
किन शब्दों में कहूँ !
गर यकीन हो
नमकीन आँसुओं का
स्वाद है वह !'

इसीलिए
करुणा रस में
शान्त-रस का अन्तर्भाव मानना
बड़ी भूल है।

उछलती हुई उपयोग की परिणति वह
करुणा है
नहर की भाँति !
और
उजली-सी उपयोग की परिणति वह
शान्त रस है
नदी की भाँति !
नहर खेत में आती है

दाह को मिटाकर
सुख पाती है, और
नदी सागर को जाती है
राह को मिटाकर
सुख पाती है।

विषय को और विशद करना चाहूंगा—
धूल में पड़ते ही जल
दल-दल में बदल जाता है
किन्तु,
हिम की डली वो
धूलि में पड़ी भी हो
बदलाहट सम्भव नहीं उसमें
ग्रहण-भाव का अभाव है उसमें।
और
जल को अनल का योग मिलते ही
उसकी शीतलता मिटती है
और वह
जलता है, ओरों को जलाता भी !
परन्तु,
हिम की डली को
अनल पर रखने पर भी
उस की शीतलता मिटती नहीं है
और वह
जलती नहीं, न जलाती औरों को।
लगभग यही स्थिति है
करुणा और शान्तरस की।

करुणा तरल है, बहती है
पर से प्रभावित होती झट-सी।

शान्त-रस किसी बहाव में
बहता नहीं कभी
जमाना पलटने पर भी
जमा रहता है अपने स्थान पर।
इस से यह भी ध्वनि निकलती है कि
करुणा में वात्सल्य का
मिश्रण सम्भव नहीं है
और
वात्सल्य को हम
पोल नहीं कह सकते
न ही कपोल-कल्पित।

महासत्ता माँ के
गोल-गोल कपोल-तल पर
पुलकित होता है यह वात्सल्य।
करुणा-सम वात्सल्य भी
द्वैत-भोजी तो होता है
पर, ममता-समेत मौजी होता है,
इस में
बाहरी आदान-प्रदान की प्रमुखता रहती है,
भीतरी उपादान गौण होता है
यही कारण है, इसमें
अद्वैत मौन होता है।

सह-धर्मी सम
आचार-विचारों पर ही
इस का प्रयोग होता है
इसकी अभिव्यक्ति
मृदु मुस्कान के बिना
सम्भव ही नहीं है।
वात्सल्य-रस के आस्वादन में

हल्की-सी मधुरता ··फिर
क्षण-भंगुरता झलकती है
ओस के कणों से
न ही प्यास बुझती, न आस
बुझता बस श्वास का दीया वह !
फिर तुम ही बताओ,
वात्सल्य में शान्त-रस का
अन्तर्भाव कैसा ?
माँ की गोद में बालक हो
माँ उसे दूध पिला रही हो
बालक दूध पीता हुआ
ऊपर माँ की ओर निहारता अवश्य,
अधरों पर, नयनों में
और
कपोल-युगल पर ।
क्रिया-प्रतिक्रिया की परिस्थिति
प्रतिफलन किस रूप में है—
परीक्षण चलता रहता है
यदि करुणा या कठोरता
नयनों मे झलकेगी
कुछ गम्भीर हो
रुदनता की ओर मुड़ेगा वह,
अधरों की मन्द मुस्कान से
यदि कपोल चचल स्पन्दित होते हों
ठसका लेगा वह !
यही एक कारण है, कि
प्रायः माँ दूध पिलाते समय --
अपने अंचल में
बालक का मुख छिपा लेती है ।

यानी,
शान्त-रस का संवेदन वह
सानन्द - एकान्त में ही हो
और तब
एकाकी हो संवेदी वह !

रंग और तरंग से रहित
सरवर के अन्तरंग से
अपने रंगहीन या रंगीन अंग का
संगम होना ही संगत है
शान्त-रस का यही संग है
यही अंग !

करुणा-रस जीवन का प्राण है
घम-घम समीर-धर्मी है।

वात्सल्य-जीवन का त्राण है
धवलिम नीर-धर्मी है।

किन्तु, यह
द्वैत-जगत की बात हुई,
शान्त-रस जीवन का गान है
मधुरिम क्षीर-धर्मी है।

करुणा-रस उसे माना है, जो
कठिनतम पाषाण को भी
मोम बना देता है,

वात्सल्य का बाना है
जघनतम नादान को भी
सोम बना देता है।

किन्तु, यह लौकिक
चमत्कार की बात हुई,
शान्त-रस का क्या कहें,

संयम-रत धीमान को ही
'ओम्' बना देता है।

जहाँ तक शान्त रस की बात है
वह आत्मसात् करने की ही है
कम शब्दों में
निषेध-मुख से कहूँ
सब रसों का अन्त होना ही—
शान्त-रस है।
यूँ गुनगुनाता रहता
सन्तों का भी अन्त:प्रान्त वह।
·· धन्य !

□

रस-राज, रस-पाक
शान्त रस की उपादेयता पर
बल देती हुई पूरी होती ह
इधर माटी की रौंदन-क्रिया भी।
और
पर्वत-शिखर की भाँति
धरती में गड़ी लकड़ी की कील पर
हाथ में दो हाथ की लम्बी लकड़ी ले
अपने चक्र को घुमाता है शिल्पी।
फिर
घूमते चक्र पर
लौंदा रखता है माटी का
लौंदा भी घूमने लगता है—
चक्रवत् तेज-गति से,
कि
माटी कुछ कहती है शिल्पी से,

"सृ धातु गति के अर्थ में आती है,
सं यानी समीचीन
सार यानी सरकना…
जो सम्यक् सरकता है
वह संसार कहलाता है।

काल स्वयं चक्र नहीं है
संसार-चक्र का चालक होता है वह
यही कारण है कि
उपचार से काल को चक्र कहते हैं
इसी का परिणाम है कि
चार गतियों, चौरासी लाख योनियों में
चक्कर खाती आ रही हूँ।

लो, आपने कुलाल-चक्र पर
और रख दी इसे!
कैसा चक्कर आ रहा है
घूम रहा है माथा इसका
उतार दो इसे…तार दो!"

फिर से उत्तर के रूप में
माटी को समझाती हुई
शिल्पी की मुद्रा :

"चक्र अनेक-विध हुआ करते हैं
संसार का चक्र वह है जो
राग-रोष आदि वैभाविक
अध्यवसान का कारण है;
चक्री का चक्र वह है जो
भौतिक-जीवन के
अवसान का कारण है,
परन्तु

कुलाल-चक्र यह, वह सान है
जिस पर जीवन चढ़कर
अनुपम पहलुओं से निखर आता है,
पावन जीवन की अब शान का कारण है।

हाँ, हाँ ! तुम्हें जो चक्कर आ रहा है
उसका कारण कुलाल-चक्र नहीं,
वरन्
तुम्हारी दृष्टि का अपराध है वह
क्योंकि
परिधि की ओर देखने से
चेतन का पतन होता है
और
परम-केन्द्र की ओर देखने से
चेतन का जतन होता है।
परिधि में भ्रमण होता है
जीवन यूँ ही गुज़र जाता है,
केन्द्र में रमण होता है
जीवन सुखी नज़र आता है।

और सुनो,
यह एक साधारण-सी बात है कि
चक्करदार पथ ही, आखिर
गगन चूमता
अगम्य पर्वत-शिखर तक
पथिक को पहुँचाता है
बाधा-बिन बेशक !"

□

अब, सहजरूप से सर्व-प्रथम
संकल्पित होता है शिल्पी,

उसके उपयोग में
आकृत होता है कुम्भ का आकार।
प्रासंगिक प्राकृत हुआ,
ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ,
और ध्यान ध्येयाकार !

मन का अनुकरण तन भी करता है,
कुम्भकार के उभय कर
कुम्भाकार हुए,
प्राथमिक छुवन हुआ
माटी के भीतर अपूर्व पुलकन
आत्मीयता का अथ-सा लगा।
लो, रह-रह कर
तरह-तरह की माटी की मंजुल छवियाँ
उभर-उभर कर ऊपर आ रहीं,
क्रम-क्रम से तरंग-क्रम से
रहस्य के घूँघट में निहित थीं—
जो चिर से !

रहस्य के घूंघट का उद्घाटन
पुरुषार्थ के हाथ में है
रहस्य को सूँघने की कड़ी प्यास
उसे ही लगती है जो भोक्ता
संवेदन-शील होता है,
यह काल का कार्य नहीं है,

जिसके निकट - पास
करण यानी कर नहीं होता है
वह पर का कुछ न करता, न कराता।
जिसके पास
चरण - चर नहीं होता है
वह स्वयं न चलता पग भर भी

न ही चलाता पर को।
काल निष्क्रिय है ना!
क्रय-विक्रय से परे है वह।
अनन्त-काल से काल
एक ही स्थान पर आसीन है
पर के प्रति उदासीन…!
तथापि
इस भाँति काल का उपस्थित रहना
यहाँ पर
प्रत्येक कार्य के लिए अनिवार्य है; परस्पर यह
निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जो रहा!

मान-घमण्ड से अछूती माटी
पिण्ड से पिण्ड छुड़ाती हुई
कुम्भ के रूप में ढलती है
कुम्भाकार धरती है
धृति के साथ धरती के ऊपर उठ रही है।

वैसे,
निरन्तर सामान्य रूप से
वस्तु की यात्रा चलती रहती है
अबाधित अपनी गति के साथ,
फिर भी विशेष रूप से
विकास के क्रम तब उठते हैं
जब मति साथ देती है
जो मान से विमुख होती है,
और
विनाश के क्रम तब जुटते हैं
जब रति साथ देती है
जो मान मे प्रमुख होती है।
उत्थान-पतन का यही आमुख है।

घृत से भरा घट-सा
बड़ी सावधानी से शिल्पी ने
चक्र पर से कुम्भ को उतारा,
धरती पर !
दो-तीन दिन का
अवकाश मिला
सो···कुम्भ का गीलापन
मिट-सा गया···
सो···कुम्भ का ढीलापन
सिमट-सा गया।
आज शिल्पी को बड़ी प्रसन्नता है
कुम्भ को उठा लिया है हाथ मे।
और फिर,
एक हाथ में सोट ले
दूजे से ओट कर
कुम्भ की खोट पर चोट की है।

हाथ की ओट की ओर देखने से
दया का दर्शन होता है,
मात्र चोट की ओर देखने से
निर्दयता उफनती-सी लगती है
परन्तु,
चोट खोट पर है ना !
सावधानी बरत रही है;
शिल्पी की आँखें पलकती नहीं हैं
तभी तो···
इसने कुम्भ को सुन्दर रूप दे
घोटम-घोट किया है
कुम्भ का गला न घोट दिया !

□

कुछ तत्वोद्घाटक
संख्याओं का अंकन
विचित्र चित्रों का चित्रण
और
कविताओं का सृजन हुआ है कुम्भ पर !
९९ और ९ की संख्या
जो कुम्भ के कर्ण-स्थान पर
आभरण-सी लगती अंकित हैं
अपना-अपना परिचय दे रही हैं।

एक क्षार संसार की द्योतक है
एक क्षीर-सार की।
एक से मोह का विस्तार मिलता है,
एक से मोक्ष का द्वार खुलता है
९९ संख्या को
दो आदि संख्याओं से गुणित करने पर
भले ही संख्या बढ़ती जाती उत्तरोत्तर,
परन्तु
लब्ध-संख्या को परस्पर मिलाने से
९ की संख्या ही शेष रह जाती है।

यथा :
९९×२=१९८, १+९+८=१८, १+८=९
९९×३=२९७, २+९+७=१८, १+८=९
९९×४=३९६, ३+९+६=१८, १+८=९
इसी भाँति गुणन-क्रम
९ की संख्या तक ले जाइए
और
९ की संख्या को
दो आदि संख्या से गुणित करने पर
संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भी

परस्पर मिलाने पर
ज्यों की त्यों ६ की संख्या ही शेष रहती है,
यथा :
९×२=१८, १+८=९
९×३=२७, २+७=९
९×४=३६, ३+६=९
इसी भाँति गुणन-क्रम
९ की संख्या तक ले जाइए
और आयेगी, रहेगी, दिखेगी केवल ९

यही कारण है कि
९९ वह
विघन-माया छलना है,
क्षय-स्वभाव वाली है
और
अनात्म-तत्त्व की उद्योतिनी है;
और ९ की संख्या यह
सघन छाया है
पलना है, जीवन जिसमें पलता है
अक्षय स्वभाव वाली है
अजर-अमर अविनाशी
आत्म-तत्त्व की उद्‌बोधिनी है
विस्तरेणालम्…!

संसार ९९ का चक्कर है
यह कहावत चरितार्थ होती है
इसीलिए
भविक मुमुक्षुओं की दृष्टि में
९९ हेय हो और
ध्येय हो ९
नव-जीवन का स्रोत !

कुम्भ के कण्ठ पर
एक संख्या और अंकित है,
वह है ६३
जो पुराण-पुरुषों की
स्मृति दिलाती है हमें।
इस की यह विशेषता है कि

छह के मुख को
तीन देख रहा है
और
तीन को सम्मुख दिख रहा छह !
एक दूसरे के सुख-दुःख में
परस्पर भाग लेना
सज्जनता की पहचान है,
और
औरों के सुख को देख, जलना
औरों के दुःख को देख, खिलना
दुर्जनता का सही लक्षण है।
जब
आदर्श पुरुषों का विस्मरण होता है
तब
६३ का विलोम परिणमन होता है
यानी
३६ का आगमन होता है।

तीन और छह इन दोनों की दिशा
एक-दूसरे के विपरीत है।
विचारों की विकृति ही
आचारों की प्रकृति को
उलटी करवट दिलाती है।
कलह-संघर्ष छिड़ जाता है परस्पर।

फिर क्या बताना !
३६ के आगे
एक और तीन की संख्या जुड़ जाती है,
कुल मिलाकर
तीन सौ त्रेसठ मतों का उद्भव होता है
जो परस्पर एक-दूसरे के
खून के प्यासे होते हैं
जिनका दर्शन सुलभ है
आज इस धरती पर !

□

कुम्भ पर हुआ वह
सिंह और श्वान का चित्रण भी
बिन बोले ही संदेश दे रहा है—
दोनों की जीवन-चर्या-चाल
परस्पर विपरीत है।
पीछे से, कभी किसी पर
धावा नहीं बोलता सिंह,
गरज के बिना गरजता भी नहीं,
और
बिना गरजे
किसी पर बरसता भी नहीं—
यानी
मायाचार से दूर रहता है सिंह।

परन्तु, श्वान सदा
पीठ-पीछे से जा काटता है,
बिना प्रयोजन जब कभी भौंकता भी है।

जीवन-सामग्री हेतु
दीनता की उपासना

कभी नहीं करता सिंह !
जब कि
स्वामी के पीछे-पीछे पूँछ हिलाता
श्वान फिरता है एक टुकड़े के लिए।

सिंह के गले में पट्टा बँध नहीं सकता।
किसी कारण वश
बन्धन को प्राप्त हुआ सिंह
पिंजड़े में भी
बिना पट्टा ही घूमता रहता है,
उस समय उसकी पूँछ
ऊपर उठी तनी रहती है
अपनी स्वतन्त्रता-स्वाभिमान पर
कभी किसी भाँति
आँच आने नहीं देता वह !
और श्वान
स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझता,
पराधीनता-दीनता वह
श्वान को चुभती नहीं कभी,
श्वान के गले में जंजीर भी
आभरण का रूप धारण करती है।

और भी विशेष यह कि
श्वान को पत्थर मारने से, वह
पत्थर को ही पकड़कर काटता है
मारक को नहीं !
परन्तु
सिंह विवेक से काम लेता है
सही कारण की ओर ही
सदा दृष्टि जाती है सिंह की,
मारक पर मार करता है वह।

श्वान-सभ्यता—संस्कृति की
इसीलिए निन्दा होती है
कि
वह अपनी जाति को देख कर
धरती खोदता, गुर्राता है।

सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है,
राजा की वृत्ति ऐसी ही होती है,
होनी भी चाहिए।

कोई-कोई श्वान
पागल भी होते हैं
और वे
जिन्हें काटते हैं वे भी पागल हो श्वान-सम
भौंकते हुए नियम से
कुछ ही दिनों में मर जाते हैं,

परन्तु
कभी भी यह नहीं सुना कि
सिंह पागल हुआ हो।

श्वान-जाति का एक और
अति निन्द्य कर्म है, कि
जब कभी क्षुधा से पीड़ित हो
खाद्य नहीं मिलने से
मल पर भी मुँह मारता है वह,
और
जब मल भी नहीं मिलता…तो
अपनी सन्तान को ही खा जाता है,

किन्तु, सुनो!
भूख, मिटाने हेतु
सिंह विष्ठा का सेवन नहीं करता

न ही अपने
सद्यःजात शिशु का भक्षण···!

वहीं ··कुम्भ पर
कछुवा और खरगोश का चित्र
साधक को साधना की विधि बता
सचेत करा रहा है।
कछुवा अपनी धीमी चाल चलता
समय के भीतर लक्ष्य तक जा चुका है,
और
खरगोश—सावधान होकर भी
बहुत पीछे रहा;
कारण विदित ही है—
एक की गति अविरल थी
एक ने पथ में निद्रा ली थी,
प्रमाद पथिक का परम शत्रु है।

अब दर्शक को दर्शन होता है—
कुम्भ के मुख मण्डल पर
'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का।
ये दोनों बीजाक्षर हैं,
अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।

हम ही सब कुछ हैं
यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो!
और,
'भी' का कहना है कि
हम भी हैं

तुम भी हो
सब कुछ !

'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,

'ही' पश्चिमी-सभ्यता है
'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता ।
रावण था 'ही' का उपासक
राम के भीतर 'भी' बैठा था ।
यही कारण कि
राम उपास्य हुए हैं, रहेंगे आगे भी ।

'भी' के आस-पास
बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,
किन्तु भीड़ नहीं,
'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है ।

लोक में लोकतन्त्र का नीड़
तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा ।
'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,
सद्‌विचार सदाचार के बीज
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं ।

प्रभु से प्रार्थना है, कि
'ही' से हीन हो जगत् यह
अभी हो या कभी भी हो
'भी' से भेंट सभी की हो ।

'कर पर कर दो'
कुम्भ पर लिखित पंक्ति से ज्ञात होता है, कि

हमारे उज्ज्वलिम भविष्य हेतु
प्रभु की यह आशा है कि :
'कहाँ बैठे हो तुम श्वास खोते
सही-सही उद्यम करो
पाप-पाखण्ड से परे हो
कर पर कर दो
बच जाओगे।
अन्यथा
मेल में अन्ध हो
जेल में बन्द हो
पच पाओगे…!'

□

'मर हम मरहम बनें'
इन यह चार शब्दों की कविता भी मिलती है
यहीं, कुम्भ पर !
आशय इसका यही हो सकता है कि
कितना कठिनतम
पाषाण-जीवन रहा हमारा !
ठोकर खा गये इस से
रुक गये, गिर गये !
पथ को छोड़कर
फिर गये कितने !
फिर,
कितने पद लहूलुहान हो गये,
कितने गहरे घाव-दार बन गये वे !
समुचित उपचार कहाँ हुआ उनका,
होता भी कैसे पापी पाषाण से…!
उपचार का विचार भर

उभरा इसमें आज !
यह भी सुभगता का संकेत है
इससे आगे पद बढ़ना सम्भव नहीं ।
प्रभो ! यही प्रार्थना है पतित पापी की,
कि
इस जीवन में नहीं सही
अगली पर्याय में…तो
मर, हम 'मरहम' बनें…!

चार अक्षरों की एक और कविता
"मैं दो गला"
इस से पहला भाव यह निकलता है, कि
मैं द्विभाषी हूँ
भीतर से कुछ बोलता हूँ
बाहर से कुछ और…
पय में विष घोलता हूँ ।
अब इसका दूसरा भाव सामने आता है :
मैं दोगला
छली, धूर्त, मायावी हूँ
अज्ञान-मान के कारण ही
इस छद्म को छुपाता आया हूँ
यूँ, इस कटु सत्य को,
सब हितैषी तुम भी स्वीकारो
अपना हित किसमें है ?

और
इसका तीसरा भाव क्या है—
पूछने की आवश्यकता है ?
सब विभावों-विकारों की जड़
'मैं' यानी अहं को
दो गला—कर दो समाप्त

मैं···दो···गला···मैं···दोगला,
मैं दोगला !!

□

कुम्भ में जलीय अंश शेष है अभी
निश्शेष करना है उसे
और
तपी हुई खुली धरती पर
कुम्भ को रखता है कुम्भकार।

बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का,
विलय हो नहीं सकता
और
बिना तप के जलत्व का, वर्षा का,
उदय हो नहीं सकता
तप के अभाव में ही
तपता रहा है अन्तर्मन यह
अनल्प संकल्प-विकल्पों से, कल्प-कालों से।
विफलता ही हाथ लगी है
विकलता ही साथ चली है
किसविध कहें, किसविध सहें
और, किसविध रहें ?···
कोरी बस,
सफलता की बात मिली है
आज तक, इस जीवन में···।

अनन्त की सुगन्ध में
खो जाने को मचल रहा है,
अन्त की सीमा से परे
हो जाने को उछल रहा है,

सन्त का अशान्त मन यूँ पूछता है :
'ओ वासन्ती !
मही माँ ! कहाँ गई…
ओ वसन्त की महिमा ! कहाँ गई ?'

इस पर
कुछ शब्द मिलते सुनने सन्त को,
कि
"वसन्त का अन्त हो चुका है
अनन्त में सान्त खो चुका है
और उसकी देह का अन्तिम दाह-संस्कार होना है।
निदाघ आहूत था, सो आगत है
प्रभाकर का प्रचण्ड रूप है
चिलचिलाती धूप है
बाहर - भीतर, दायें - बायें
आगे - पीछे, ऊपर - नीचे
धग-धग लपट चल रही है
बस ! बरस रही केवल
तपन…तपन…तपन…!

दशा बदल गई है
दशों दिशाओं की
धरा का उदारतर उर
और
उरु उदर ये
गुरु - दरारदार बने हैं
जिनमें प्रवेश पाती हैं
आग उगलती हवायें ये
अपना परिचय देती-सी
रसातल-गत उबलते लावा को।

यहाँ जल रही है केवल
तपन···तपन···तपन···!

नील नीर की झील
नाली - नदियाँ ये
अनन्त सलिला भी
अन्तःसलिला हो
अन्त-सलिला हुई हैं,
इन का विलोम परिणमन हुआ है
यानी,
न · दी···दी···न ।
जल से विहीन हो
दीनता का अनुभव करती है नदी,
और
ना···ली ली···ना ·
लीना हुई जा रही है धरती में
लज्जा के कारण,

यहाँ चल रही है केवल
तपन···तपन तपन !

अविलम्ब उदयाचल पर चढ़ कर भी
विलम्ब से अस्ताचल को छू पाते
दिनकर को
अपनी यात्रा पूर्ण करने में
अधिक समय लग रहा है।
लग रहा है,
रवि की गति में शैथिल्य आया है,
अन्यथा
इन दिनों दिन बड़े क्यों ?

यहाँ यही बल है केवल
तपन ··तपन· तपन ·!

हरिता हरी वह किससे ?
हरि की हरिता फिर
किस काम की रही ?
लचकती लतिका की मृदुता
पक्व फलों की मधुता
किधर गईं सब ये ?
वह मन्द सुगन्ध पवन का बहाव,
हलका-सा झोंका वह
फल-दल दोलायन कहाँ ?
फूलों की मुस्कान,
पल-पल पत्रों की करतल-तालियाँ
श्रुति-मधुर श्राव्य मधूपजीवी
अलि-दल गुंजन कहाँ ?
शीत-लता की छुवन छुपी
पीत-लता की पलित छवि भी
पल भर भी पली नहीं
जली, चली गई कहाँ, पता न चला,
यहाँ पल है रही केवल
तपन···तपन···तपन···!

वह राग कहाँ, पराग कहाँ
चेतना की वह जाग कहाँ ?
वह महक नहीं, वह चहक नहीं,
वह ग्राह्य नहीं, वह गहक नहीं,

वह 'वि' कहाँ, वह कवि कहाँ,
मंजु-किरणधर वह रवि कहाँ ?
वह अंग कहाँ, वह रंग कहाँ
अनंग का वह व्यंग कहाँ ?
वह हाव नहीं, वह भाव नहीं,
चेतना की छवि-छाँव नहीं,

यहाँ चल रही है केवल
तपन···तपन···तपन···!

भोग पड़े हैं यहीं
भोगी चला गया,
योग पड़े हैं यहीं
योगी चला गया,
कौन किस के लिए—
धन जीवन के लिए
या जीवन धन के लिए ?
मूल्य किसका
तन का या वेतन का,
जड़ का या चेतन का ?

आभरण आभूषण उतारे गये
वसन्त के तन पर से
वासना जिस ओट में छुप जाती
वसन भी उतारा गया वह।
वासना का वास वह
न तन में है, न वसन में
वरन्
माया से प्रभावित मन में है।

वसन्त का भौतिक तन पड़ा है
निरा हो निष्क्रिय, निरावरण,
गन्ध-शून्य शुष्क पुष्प-सा।
मुख उसका थोड़ा-सा खुला है,
मुख से बाहर निकली है रसना
थोड़ी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है—
भौतिक जीवन में रस ना !

और
र…स…ना, ना…स…र
यानी वसन्त के पास सर नहीं था
बुद्धि नहीं थी हिताहित परखने की,
यही कारण है कि
वसन्त-सम जीवन पर
सन्तों का नाऽसर पड़ता है ।

दाह-संस्कार का समय आ ही गया
वैराग्य का वातावरण छा-सा गया
जब उतारा गया वह
वसन्त के तन पर से
कफन…कफन…कफन
यहाँ गल रही है केवल
तपन…तपन…तपन…!

देखते ही देखते, बस
दिखना बन्द हो गया,
वसन्त का शव भी
अतीत की गोद में समो गया
शेष रह गया अस्थियों का अस्तित्व ।
और,
यूँ कहती-कहती
अस्थियाँ हँस रही हैं
विश्व की मूढ़ता पर, कि
जिसने मरण को पाया है
उसे जनन को पाना है
और
जिसने जनन को पाया है
उसे मरण को पाना है
यह अकाट्य नियम है !

गणना करना सम्भव नहीं है,
अनगिन बार धरती खुदी
गहरी-गहरी वहीं-वहीं पर
अनगिन बार अस्थियाँ दबीं थे !
अब तो मत करो हमारा
दफन ···दफन···दफन
हमारा वफन ही यह
आगामी वसन्त-स्वागत के लिए
वपन···वपन···वपन

यहाँ चल रही है केवल
तपन·· तपन·· तपन

कभी कराल काला राहू
प्रभा-पुंज भानु को भी
पूरा निगलता हुआ दिखा,
कभी-कभार भानु भी वह
अनल उगलता हुआ दिखा।
जिस उगलन में
पेड़-पौधे पर्वत-पाषाण
पूरा निखिल पाताल तल तक
पिघलता गलता हुआ दिखा

अनल अनिल हुआ कभी
अनिल सलिल हुआ कभी
और
जल थल हुआ झटपट
बदलता ढलता परस्पर में
घुला-मिला कलिल हुआ कभी।

सार-जनी रजनी दिखी
कभी शशि की हँसी दिखी

कभी-कभी खुशी-हँसी,
कभी निशि मषि दिखी
कभी सुरभि कभी दुरभि
कभी सन्धि दुरभिसन्धि
कभी आँखें कभी अन्धी
बन्धन-मुक्त कभी बन्दी

कभी कभी मधुर भी वह
मधुरता से विधुर दिखा
कभी कभी बन्धुर भी वह
बन्धुरता से विकल दिखा
बन्धु कभी बन्धु-विधुर
भावुकता की चाल चली
बाल कभी आगे बढ़ा
बबाल बढ़े, बढ़ते चले
पालक बना चालक बना
बाल हुए पलित कभी
कभी दमन कभी शमन
कभी-कभी सुख चमन
कभी वमन कभी नमन
कभी कुछ परिणमन…!

अभी रुकती नहीं
कहती थकती नहीं
अस्थियाँ कुछ और कहती हैं,
कि
इन स्थितियों-परिस्थितियों को देख
वे कुछ हैं भी या नहीं
ऐसी धारणा मत बनाओ कहीं !
ये सब के सब निशा के निरे, बस
स्वपन…स्वपन… स्वपन…

यहाँ चल रही है केवल
तपन···तपन···तपन·· !

किस वजह से आती है
वस्तु में यह भंगुरता
और
किस जगह से आती है
वस्तु मे यह संगुरता,
कुछ छुपी-सी लगती है यहाँ
सहज-स्वाभाविकता ध्रुवता
वह कौन है
क्यों मौन है ?
उसका रूप-स्वरूप कब दिखेगा
वह भरपूर रसकूप कब मिलेगा
और
यह मिलन-मिटन की तरलिम छवि
यह क्षणिक स्फुरण की सरलिम छवि
पकड़ में क्यों नहीं आती -
इन सब शंकाओं का समाधान
अस्थियों की मुस्कान है !

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'
सन्तों से यह सूत्र मिला है
इसमें अनन्त की अस्तिमा
सिमट-सी गई है।
यह वह दर्पण है,
जिसमे
भूत, भावित और सम्भावित
सब कुछ झिलमिला रहा है,
तैर रहा है
दिखता है आस्था की आँखों से देखने से !

व्यावहारिक भाषा में
सूत्र का भावानुवाद प्रस्तुत है :
आना, जाना लगा हुआ है
आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है
लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और
है यानी चिर–सत्
यही सत्य है यही तथ्य···!

इससे यह और फलित हुआ, कि
देते हुए श्रय परस्पर मिले हैं
ये सर्व-द्रव्य पय-शर्करा से घुले हैं
शोभे तथापि अपने-अपने गुणों से
छोड़े नहीं निज स्वभाव
युगों-युगों से।
फिर कौन किसको कब
ग्रहण कर सकता है ?
फिर कौन किसका कब
हरण कर सकता है ?

अपना स्वामी आप है
अपना कामी आप है
फिर कौन किसका कब
भरण कर सकता है ?··

फिर भी, खेद है
ग्रहण-संग्रहण का भाव होता है
सो·· भवानुगामी पाप है।
अधिक कथन से विराम,
आज तक यह रहस्य खुला कहाँ ?
जो 'है' वह सब सत्

स्वभाव से ही सुधारता है
स्व-पन···स्वपन ···स्व-पन···
अब तो चेतें - विचारें
अपनी ओर निहारें
अपन···अपन···अपन।
यहाँ चल रही है केवल
तपन···तपन···तपन···!

□

वसन्त चला गया
उसका तन जलाया गया,
तथापि
वन-उपवनों पर, कणों-कणों पर
उसका प्रभाव पड़ा है
प्रति जीवन पर यहाँ;
रग-रग में रस वह
रम गया है रक्त बनकर।

रूप पर, गन्ध पर, रस पर,
परिणाम जो हुआ है परस पर
पर्त-दर-पर्त गहरा लेप चढ़ गया है।
वह प्राकृत सब कुछ ढक चुका है
वह विषय बहुत गूढ़ बन चुका है
इसीलिए
दाह-संस्कार के अनन्तर भी
पूरा परिसर यह
स्नपित - स्नात होना अनिवार्य है।

परन्तु यह क्या!
अतिथि होकर भी अति क्यों?
आय नहीं होती, नहीं सही

व्यय से भी कोई चिन्ता नहीं
परन्तु
अपव्यय महा भयंकर है।
भविष्य भला नहीं दिखता अब
भाग्य का भाल धूमिल है !

अधर में डुलती-सी
बादल-दलों की बहुलता
अकाल में काल का दर्शन क्यों ?
यूँ कहीं···निखिल को
एक ही कवल बना
एक ही बार में
विकराल गाल में डाल
···बिना चबाये
साबुत निगलना चाहती है !

□

खण्ड : तीन

पुण्य का पालन पाप-प्रक्षालन
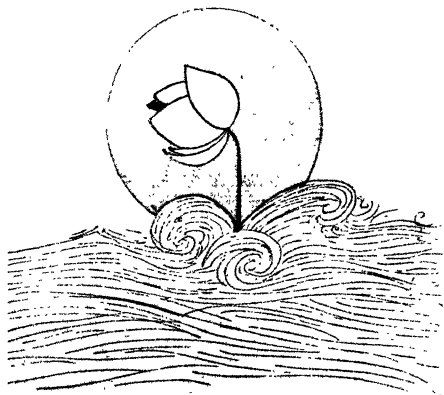
जब कभी धरा पर प्रलय हुआ
यह श्रेय जाता है केवल जल को

धरती को शीतलता का लोभ दे
इसे लूटा है,
इसीलिए आज
यह धरती धरा रह गई
न ही वसुंधरा रही न वसुधा !
और
वह जल रत्नाकर बना है—
बहा-बहा कर
धरती के वैभव को ले गया है।

पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना
अज्ञान को बताता है,
और
पर-सम्पदा हरण कर सग्रह करना
मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है
स्व-पर को सताना है,
नीच - नरकों में जा जीवन बिताना है।

यह निन्द्य कर्म करके
जलधि ने जड़-धी का,
बुद्धि-हीनता का, परिचय दिया है
अपने नाम को सार्थक बनाया है।

अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी
प्रतिकार नहीं करने का
संकल्प लिया है धरती ने,
इसीलिए तो धरती
सर्व-सहा कहलाती है
सर्वं-स्वाहा नहीं···

और
सर्वं-सहा होना ही
सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तो का पथ यही गाता है।

न्याय-पथ के पथिक बने
सूर्य-नारायण से यह अन्याय
देखा नहीं गया, सहा नहीं गया
और
अपने मुख से किसी से
कहा नहीं गया !
फिर भी, अकर्मण्य नही हुआ वह
बार-बार प्रयास चलता रहा सूर्य का,
अन्याय पक्ष के विलय के लिए
न्याय पक्ष की विजय के लिए।

लो ! प्रखर-प्रखरतर अपनी किरणों से
जलधि के जल को
जला-जला कर सुखाया,
चुरा कर भीतर रखा हुआ
अपार धन-वैभव दिख गया
सुरों, सुराधिपों को !
इस पर भी स्वभाव तो···देखो,
जला हुआ जल वाष्प में ढला

जलद बन जल बरसाता रहा
और
अपने दोष-छद्म छुपाता रहा
जलधि को बार-बार भर कर…!

कई बार भानु को घूस देने का
प्रयास किया गया
पर न्याय-मार्ग से विचलित नहीं हुआ
…वह

परन्तु,
उधर चन्द्रमा विचलित हुआ
और
उसने जलतत्त्व का पक्ष ले,
लक्ष्य से च्युत हो,
भर-पूर घूस ली।
तभी…तो
चन्द सम्पदा का स्वामी भी आज
सुधाकर बन गया चन्द्रमा !

वसुधा की सारी सुधा
सागर में जा एकत्र होती
फिर प्रेषित होती ऊपर…
और
उस का सेवन करता है
सुधाकर, सागर नहीं
सागर के भाग्य में क्षार ही लिखा है।

'यह पदोचित कार्य नहीं हुआ—
मेरे लिए सर्वथा अनुचित है'
यूँ सोचकर चन्द्रमा को लज्जा-सी आती है
उज्ज्वल भाल कलंकित हुआ उसका

अन्यथा,
दिन में क्यों नहीं
रात्रि में क्यों निकलता है घर से बाहर ?
वह भी चोर के समान—सशंक
छोटा-सा मुख छुपाता हुआ अपना ··!
और
धरती से बहुत दूर क्यों रहता है ?
जब कि भानु
धरती के निकट से प्रवास करता है अपना ?

खेद है,
चन्द्रमा का ही अनुसरण करती हैं
तारायें भी।
इधर सागर की भी यही स्थिति है
चन्द्र को देख कर उमडता है
और
सूर्य को देखकर उबलता है।

यह कटु-सत्य है कि
अर्थ की आँखें
परमार्थ को देख नहीं सकती,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बडों को
निर्लज्ज बनाया है।

□

यह बात निराली है, कि
मौलिक मुक्ताओं का निधान सागर भी है
कारण कि
मुक्ता का उपादान जल है,
यानी—जल ही मुक्ता का रूप धारण करता है

तथापि
विचार करें तो
विदित होता है कि
इस कार्य में धरती का ही प्रमुख हाथ है।
जल को मुक्ता के रूप में ढालने में
शुक्तिका—सीप कारण है
और
सीप स्वयं धरती का अंश है।
स्वयं धरती ने सीप को प्रशिक्षित कर
सागर में प्रेषित किया है।

जल को जड़त्व से मुक्त कर
मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर
उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।

यही दया-धर्म है
यही जिया कर्म है।

फिर भी!
सबकी प्रकृति सही-सुलटी हो
यह कैसे सम्भव है?
जल की उलटी चाल मिटती नहीं वह
जल का स्वभाव छल-छल उछलना नहीं है
उछलना केवल बहाना है,
उसका स्वभाव तो छलना है।

मुक्तमुखी हो, ऊर्ध्वमुखी हो
सागर की असीम छाती पर
अनगिनत शुक्तियाँ तैरती रहती हैं
जल-कणों की प्रतीक्षा में।

एक-दो बूंदें मुख में गिरते ही
तत्काल बन्द-मुखी बना कर
सागर उन्हें डुबोता है,
कोई उन्हें छीन न ले, इस भय से।
और, अपनी
अतल-अगम गहराई में छुपा लेता है।
वहाँ पर कोई गोताखोर पहुँचता हो
सम्पदा पुनः धरा पर लाने हेतु
वह स्वयं ही लुट जाता है।
खाली हाथ लौटना भी उसका कठिन है
दिन-रात जाग्रत रहती है यहाँ की सेना
भयंकर विषधर अजगर
मगरमच्छ, स्वच्छन्द
सम्पदा के चारों ओर विचरण करते हैं,
अपरिचित-सा कोई दिखते ही
साबुत निगल जाते हैं उसे !
यदि वह पकड़ में नहीं आता हो
तो तो क्या ?
वातावरण को विषाक्त बनाया जाता है
तुरन्त, विष फैला कर।
यही कारण है कि
सागर में विष का विशाल भण्डार मिलता है।
□

पूरी तरह जल से परिचित होने पर भी
आत्म-कर्तव्य से
चलित नहीं हुई धरती यह।
कृतघ्न के प्रति विघ्न उपस्थित
करना तो दूर,

विघ्न का विचार तक नहीं किया मन में।
निर्विघ्न जीवन जीने हेतु
कितनी उदारता है धरती की यह !
उद्धार की ही बात सोचती रहती
सदा - सर्वदा सबकी ।

देखो ना !
बाँस भी धरती का अंश है
धरती ने कह रखा है बाँस से
कि
वंश की शोभा तभी है
जल को मुक्ता बनाते रहोगे
युग - युगों तक···
संघर्ष के दिनों में भी
दीर्घ श्वास लेते हुए भी
हर्ष के क्षणों में भी।
फिर क्या कहना !

धरती माँ की आज्ञा पा
बड़े घने जंगलों में
गगन-चूमते गिरिकुलों पर
बाँस की संगति पा
जलदों से भरा जल
वंशमुक्ता में बदलने लगा ·
तभी तो
वंशी-धर भी मुक्त-कण्ठ से
वंशी की प्रशंसा करते हैं
मुक्ता पहनते कण्ठ में
और
अपने ललित - लाल अधरों से
लाड़ - प्यार देते हैं वंशी को।

बदले में फिर
सुरीले स्वर-संगीत सुनते हैं श्रवणों से
मन्त्र-मुग्ध हो, खो कर अपने को
दैनिक - रात्रिक सपने को !

इसी भाँति,
धरती माँ की आज्ञा पालने में रत हैं
नाग, सूकर, मच्छ, गज, मेघ आदि
जिनके नाम से मुक्ता प्रचलित हैं—
वंश-मुक्ता, सीप-मुक्ता
नाग-मुक्ता, सूकर-मुक्ता
मच्छ-मुक्ता, गज-मुक्ता
और मेघ-मुक्ता !
मेघ-मुक्ता बनने में भी धरती का हाथ है
सो·· स्पष्ट होगा यही ··

इन सब विशेषताओं से
सातिशय यश बढ़ता गया धरती का,
चन्द्रमा की चन्द्रिका का
अतिशय ज्वर चढ़ता गया।

धरती के प्रति तिरस्कार का भाव
और बढ़ा
धरती को अपमानित - अपवादित
करने हेतु
चन्द्रमा के निर्देशन में
जलतत्त्व वह अति तेजी से
शतरंज की चाल चलने लगा,
यदा-कदा स्वल्प वर्षा कर
दल-दल पैदा करने लगा धरती पर।
धरती की एकता—अखण्डता को

क्षति पहुँचाने हेतु
दल-दल पैदा करने लगा !

दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना !
जितने विचार, उतने प्रचार
उतनी चाल-ढाल
हाला घुली जल-ता
क्लान्ति की जननी है ना !

तभी तो
अतिवृष्टि का, अनावृष्टि का
और
अकाल-वर्षा का समर्थन हो रहा यहाँ पर !

तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए
कुछ व्यर्थ की प्रसिद्धि के लिए
सब कुछ अनर्थ घट सकता है !

वह प्रार्थना कहाँ है प्रभु से,
वह अर्चना कहाँ है प्रभु की
परमार्थ समृद्धि के लिए !

इसी बीच विशाल आँखे
विस्फारित किये खड़ी
लेखनी यह बोल पड़ी कि—
"अघ-पालिनी, विश्वघातिनी
इस दुर्बुद्धि के लिए
धिक्कार हो, धिक्कार हो !
आततायिनी, आतंदायिनी
दीर्घ गीध-सी
इस धन-गृद्धि के लिए
धिक्कार हो, धिक्कार हो !"

□

तीन-चार दिन हो गये
किसी कारणवश
विवश होकर जाना पड़ा बाहर
कुम्भकार को।
पर, प्रवास पर
तन ही गया है उसका,
मन यहीं पर
बार-बार लौट आता आवास पर !

तन को अंग कहा है
मन को अंगहीन अंतरंग
अनंग का योनि-स्थान है वह
सब संगों का उत्पादक
सब रंगों का उत्पातक !

तन का नियन्त्रण सरल है
और
मन का नियन्त्रण असम्भव तो नहीं,
तथापि
वह एक उलझन अवश्य है
कटुक-पान गरल है वह…।

कुम्भकार की अनुपस्थिति होना
कुम्भ में सुखाव की उपस्थिति होना
यह स्वर्णावसर है मेरे लिए—
यूँ जलधि ने सोचा।
और
हर-हर कहती लहरों के बहाने
बादलों को
जो पहले से ही प्रशिक्षित थे,
सूचित किया
अपनी कूटनीति से।

जलधि 'जड़धी' है
इसका भाव बुद्धि का अभाव नहीं
परन्तु,
जड़ यानी निर्जीव—
चेतना-शून्य घट-पट पदार्थों से
धी यानी बुद्धि का प्रयोजन
और
चित् की अर्चना-स्वागत नहीं करना है।

सागर में परोपकारिणी बुद्धि का अभाव,
जन्मजात है उसका वह स्वभाव।

वही बुद्धिमानी है
हो हितसम्पत्-सम्पादिका
और
स्व-पर-आपत्-सहारिका !

सागर के संकेत पा
सादर सचेत हुई हैं
सागर से गागर भर-भर
अपार जल के निकेत हुई हैं
गजगामिनी भ्रम-भामिनी
दुबली-पतली कटि वाली
गगन की गली में अबला-सी
तीन बदली निकल पड़ी हैं।
दधि-धवला साड़ी पहने
पहली वाली बदली वह
ऊपर से
साधनारत साध्वी-सी लगती है।

रति-पति-प्रतिकूला-मतिवाली
पति-मति-अनुकूला गतिवाली

इससे पिछली, बिचली बदली ने
पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे
लाल पगतली वाली लाली-रची
पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे,
इस बदली की साड़ी की आभा वह
जहाँ-जहाँ गई चली
फिसली-फिसली, बदली वहाँ की आभा भी।
और,
नकली नहीं, असली
सुवर्ण वर्ण की साड़ी पहन रखी है
सबसे पिछली बदली ने।

इनका प्रयास चलता है सर्वप्रथम
प्रभाकर की प्रभा को प्रभावित करने का !
प्रभाकर को बीच में ले
परिक्रमा लगाने लगी !
कुछ ही पलों में
प्रभा तो प्रभावित हुई,
परन्तु,
प्रभाकर का पराक्रम वह
प्रभावित—पराभूत नहीं हुआ,
उसके कार्यक्रम में कुछ भी
कमी नहीं आई।

अपनी पत्नी को प्रभावित देख कर
प्रभाकर का प्रवचन प्रारम्भ हुआ।
प्रवचन प्रासंगिक है, पर है सरोष !

"अतीत के असीम काल-प्रवाह में
स्त्री-समाज द्वारा

पृथ्वी पर प्रलय हुआ हो,
सुना भी नहीं, देखा भी नहीं।
प्रलय हेतु आगत बदलियाँ ये
क्या अपनी संस्कृति को
विकृत-छवि में बदलना चाहती हैं?

अपने हों या पराये,
भूखे-प्यासे बच्चों को देख
माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता
बाहर आता ही है उमड कर,
इसी अवसर की प्रतीक्षा रहती है—
उस दूध को।

क्या सदय-हृदय भी आज
प्रलय का प्यासा बन गया?
क्या तन-संरक्षण हेतु
धर्म ही बेचा जा रहा है?
क्या धन-संवर्धन हेतु
शर्म ही बेची जा रही है?

स्त्री-जाति की कई विशेषताएँ हैं
जो आदर्श रूप हैं पुरुष के सम्मुख।

प्रतिपल परतन्त्र हो कर भी
पाप की पालड़ी भारी नहीं पड़ती
पल-भर भी!
इनमें, पाप-भीरुता पलती रहती है
अन्यथा,
स्त्रियों का नाम भीरु क्यों पड़ा?

प्रायः पुरुषों से बाध्य हो कर ही
कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को
परन्तु,

कुपथ-सुपथ की परख करने में
प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।

इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका
शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें
मिलन-सारी मित्रता
मुफ्त मिलती रहती इनसे।
यही कारण है कि
इनका सार्थक नाम है 'नारी'
यानी—
'न अरि' नारी…
अथवा
ये आरी नहीं है
सो…नारी…।

जो
मह यानी मंगलमय माहौल,
महोत्सव जीवन में लाती है
महिला कहलाती वह।

जो निराधार हुआ, निरालम्ब,
आधार का भूखा
जीवन के प्रति उदासीन - हतोत्साही हुआ
उस पुरुष में…
मही यानी धरती
धृति-धारणी जननी के प्रति
अपूर्व आस्था जगाती है।

और पुरुष को रास्ता बताती है
सही-सही गन्तव्य का—
महिला कहलाती वह!

इतना ही नहीं, और सुनो!
जो संग्रहणी व्याधि से ग्रसित हुआ है

जिसकी संयम की जठराग्नि मन्द पड़ी है,
परिग्रह-संग्रह से पीड़ित पुरुष को
मही यानी
मठा-महेरी पिलाती है,
महिला कहलाती है वह…!

जो अव यानी
'अवगम'— ज्ञानज्योति लाती है,
तिमिर-तामसता मिटाकर
जीवन को जागृत करती है
अबला कहलाती है वह !

अथवा, जो
पुरुष-चित्त की वृत्ति को
विगत की दशाओं
और
अनागत की आशाओं से
पूरी तरह हटाकर
'अब' यानी
आगत - वर्तमान में लाती है
अबला कहलाती है वह…!

बला यानी समस्या सकट है
न बला 'सो अबला
समस्या-शून्य-समाधान !
अबला के अभाव में
सबल पुरुष भी निर्बल बनता है
समस्त संसार ही, फिर,
समस्या-समूह सिद्ध होता है,
इसलिए स्त्रियों का यह
'अबला' नाम सार्थक है !

'कु' यानी पृथिवी
'मा' यानी लक्ष्मी
और
'री' यानी देनेवाली…
इससे यह भाव निकलता है कि
यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी
जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।
यही कारण है कि
सन्तों ने इन्हें
प्राथमिक मंगल माना है
लौकिक सब मंगलों में…!

धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थों से
गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।
इन पुरुषार्थों के समय
प्रायः पुरुष ही
पाप का पात्र होता है,
वह पाप, पुण्य में परिवर्तित हो
इसी हेतु स्त्रियाँ
प्रयत्न-शीला रहती हैं सदा।
पुरुष की वासना संयत हो,
और
पुरुष की उपासना संगत हो,
यानी काम पुरुषार्थ निर्दोष हो,
बस, इसी प्रयोजनवश
वह गर्भ धारण करती है।

संग्रह-वृत्ति और अपव्यय-रोग से
पुरुष को बचाती है सदा,
अर्जित-अर्थ का समुचित वितरण करके।

दान-पूजा-सेवा आदिक
सतकर्मों को, गृहस्थ धर्मों को
सहयोग दे, पुरुष से करा कर
धर्म-परम्परा की रक्षा करती है।
यूँ स्त्री शब्द ही
स्वयं गुनगुना रहा है
कि

'स्' यानी सम-शील संयम
'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में
पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···स्त्री कहलाती है।

ओ, सुख चाहनेवालो ! सुनो,
'सुता' शब्द स्वयं सुना रहा है :
'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ
और
'ता' प्रत्यय वह
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है
यानी,
सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो—
'सुता' कहलाती है
यही कहती है श्रुत-सूक्तियाँ !

दो हित जिसमें निहित हों
वह 'दुहिता' कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,
पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे
वह दुहिता कहलाती है।

उभय-कुल मंगल-वर्धिनी
उभय-लोक-सुख-सर्जिनी
स्व-पर-हित सम्पादिका
कही रहकर किसी तरह भी
हित का दोहन करती रहती
सो…दुहिता कहलाती है ।

हमें समझना है
'मातृ' शब्द का महत्त्व भी ।
प्रमाण का अर्थ होता है ज्ञान
प्रमेय यानी ज्ञेय
और
प्रमातृ को ज्ञाता कहते हैं सन्त ।
जानने की शक्ति वह
मातृ-तत्त्व के सिवा
अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती ।
यही कारण है, कि यहाँ
कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है
जो सब की आधार-शिला हो,
सब की जननी
मात्र मातृतत्त्व है ।

मातृ-तत्त्व की अनुपलब्धि में
ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ठप् !
ऐसी स्थिति में तुम ही बताओ,
सुख-शान्ति मुक्ति वह
किसे मिलेगी, क्यों मिलेगी
किस-विध…?
इसीलिए इस जीवन में
माता का मान-सम्मान हो,
उसी का जय-गान हो सदा,
धन्य… !

सदियों से सदुपदेश देती आ रही है
पुरुष-समाज को यह
अनंग के संग से अंगारित होने वालो,
सुनो जरा सुनो तो !
स्वीकार करती हूँ कि
मैं अंगना हूँ
परन्तु,
मात्र अंग ना हूँ
और भी कुछ हूँ मैं !
अंग के अन्दर भी कुछ
झाँकने का प्रयास करो,
अंग के सिवा भी कुछ
माँगने का प्रयास करो,
जो देना चाहती हूँ,
लेना चाहते हो तुम !
'सो' चिरन्तन शाश्वत है
'सो' निरंजन भास्वत है
भार-रहित आभा का आभार मानो तुम !"
□

प्रभाकर का प्रवचन यह
हृदय को जा छू गया
छूमन्तर हो गया, भाव का वैपरीत्य,
वाद-विवाद की बात भुला दी गई
चन्द पलों के बाद ही
सवाद की बात भी सुला दी गई
बाहर के अनुरूप बदलाहट भीतर भी
तीनों बदली ये बदली ।

अपने पति सागर का पक्ष
प्रतिकूल भासित हुआ इन्हें
जगत्पति प्रभाकर का पक्ष
अनुकूल प्रकाशित हुआ इन्हें
अपनी उज्ज्वल परम्परा सुन
घटित अपराध के प्रति और
अपने प्रति, घृणा का भाव भावुक हुआ,
सो · तुरन्त कह उठीं :
"भूल क्षम्य हो, स्वामिन् !
सेविका सेवा चाहती हैं
वह दृश्य-छवि
दृष्ट कब हो इन आँखों से ?
धूल शम्य हो, स्वामिन् !

अपरिचित आहार रहा जो,
अपरिमित आधार रहा जो
आनन्द-तत्त्व का स्रोत
मूल-गम्य हो स्वामिन् !

कार्य क्या, अकार्य क्या ?
क्षीर-नीर-विवेक जागृत हुआ
सेव्य की सेविका बनी···
समता की आँखों से लखनेवाली,
जिन की लीला तन की, मन की
मृदुता-मुदिता-शीला बनी

दान-कर्म मे लीना
दया-धर्म-प्रवीणा
वीणा-विनीता-सी बनी !
राग-रंग-त्यागिनी
विराग-संग-भाविनी
सरला-तरला मराली-सी बनी···!

जिनमें
सहन-शीलता आ ठनी
हनन-शीलता सो हनी,
जिनमें
सन्तो-महन्तों के प्रति
नति नमन-शीलता जगी
यति यजन-शीलता जगी
पक्षपात से रीता हो
न्यायपक्ष की गीता - समीता बनी…!

भावी भोगों की अभिलाषा को
अभिशाप देती-सी
शुक्ला-पद्मा-पीता-लेश्या-धरी
भीगे भावों, भीगी आँखों वाली
प्रभाकर को परिक्रमा देती पुन.
पुण्य में पलटाने पाप के पाक को।

घटती इस घटना का
अवलोकन किया धरती की आँखों ने,
उपरिल देहिलता झिनमिलाई
निचली स्नेहिलता से मिल आई।

धरती के अनगिन कर ये
अनगिन कणो के बहाने
अधर में उठते अविलम्ब !
और,
घटना-स्थल तक पहुँचते
बदली की आँखों से छूट कर
गालों पर, कुछ पल ठहरे, चमकते
सात्विक-जीवन के सूचक
शित-शुभ्र विशुद्ध
टपकते जल-कणो को सहलाने।

ज्यों ही…
क्षेत्र की दूरी सिमट गई
सघन-कणों का
पिघलन-कणों से मिलन हुआ
परस्पर गले से गले मिल गये !

शेष बचे सस्कार के रूप में
छल का दिल छिल गया
सब कुछ निश्छल हो गया
और
जल को मुक्ति मिली।

लो ! यूँ
मेघ-से मेघ-मुक्ता का अवतार !

यह किसकी योग्यता
वह कौन उपादान है ?
यह किस की सहयोगता
वह कौन अवदान है ?
यहाँ वेदना किस की
वह कौन प्राण है ?
यहाँ प्रेरणा किस की
वह कौन त्राण है ?
वे सब शकाये
स्वय नि:शका हुईं
अब सब कुछ रहस्य
खुल गया पूरा का पूरा,
मुक्ता की वर्षा होती
अपक्व कुम्भों पर
कुम्भकार के प्रागण में…!
पूजक का अवतरण !
पूज्य पदों में प्रणिपात।

□

कुम्भकार की अनुपस्थिति
प्रांगण में मुक्ता की वर्षा···
पूरा माहौल आश्चर्य में डूब गया
अडोस-पड़ोस की आँखों में
बाहर की ओर झाँकता हुआ लोभ !

हाथों-हाथ हवा-सी उडी बात
राजा के कानों तक पहुँचती है।

फिर क्या कहना प्राणी !
क्यों ना छूटे···
राजा के मुख में पानी !!
अपनी मण्डली ले आता है राजा
मण्डली वह मोह-मुग्धा—
लोभ-लब्धा,
मुधा-मण्डिता बनी···
अदृष्ट-पूर्व दृश्य देखकर !

मुक्ता की राशि को
बोरियों में भरने का
संकेत मिला मण्डली को।
राजा के संकेत को
आदेश-तुल्य समझती
ज्यों ही···नीचे झुकती
मण्डली राशि भरने को,
त्यों ही···

गगन में गुरु गम्भीर गर्जना :
"अनर्थ···अनर्थ···अनर्थ !
पाप···पाप···पाप··· !
क्या कर रहे आप···?
परिश्रम करो
पसीना बहाओ

बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही
पुरुष की पहचान करो सही,
परिश्रम के बिना तुम
नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह
प्रत्युत, जीवन को खतरा है!

पर-कामिनी, वह जननी हो,
पर-धन कचन की गिट्टी भी
मिट्टी हो सज्जन की दृष्टि में!

हाय रे!
समग्र संसार-सृष्टि में
अब शिष्टता कहाँ है वह?
अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र!"

यूँ, कर्ण-कटुक अप्रिय
व्यगात्मक-वाणी सुनकर भी
हाथ पसारती है मण्डली,
और
मुक्ता को छूते ही
बिच्छू के डक की वेदना,
पापड़-सिकती-सी काया सब की
छटपटाने लगी
करवटें बदलने लगी·
अंग-अंग में तड़पन-पीडा
एडी से ले चोटी तक
विष व्याप्त हुआ हो सब मे
मुग्धा मण्डली मूच्छित हुई
मोही मन्त्री समेत···
सबकी देह-यष्टि नीली पड गई!

यह सब देख कर
भयभीत हुआ राजा का मन भी,
उस का मुख खुला नहीं
मुख पर ताला पड़ गया हो कहीं,
हाथ की नाड़ी ढीली पड़ गई।
राजा को अनुभूत हुआ, कि
किसी मन्त्र-शक्ति के द्वारा
मुझे कीलित किया गया है
हाथ हिल नहीं सकते,
…थम गए है।
पाद चल नहीं सकते
…जम गए है।
धुँधला-धुँधला-सा दिखने लगा,
कान सुन नहीं सकते,
…गुम गए है।
प्रतिकार का विचार मन मे है
पर, प्रतिकार कर नहीं सकता,
किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ राजा !
और
माहौल का मन्तव्य गूढ़ हो गया !

जमाने का जमघट आ गया
इसी अवसर पर !
कुम्भकार का भी आना हुआ,
देखते ही इस दृश्य को
एक साथ शिल्पी की आँखो में
तीन रेखायें खिचती हैं
विस्मय-विषाद-विरति की !

विशाल जन-समूह वह
विस्मय का कारण रहा;

राज-मण्डली का मूच्छित होना,
राजा का कीलित-स्तम्भित होना
विषाद का कारण रहा;
और
स्त्री और श्री के चंगुल में फँसे
दुस्सह दुःख से दूर नहीं होते कभी—
यह जो स्पष्ट दिखा
विरति का कारण रहा।

कुम्भकार को रोना आया
इस दुर्घटना का घटक प्रांगण रहा,
जो स्वर्ग और अपवर्ग का कारण था
आज उपसर्ग का कारण बना,
मंगलमय प्रांगण मे
दंगल क्यों हो रहा, प्रभो ?

लगता है,
अपने पुण्य का परिपाक ही
इस कार्य में निमित्त बना है
यूँ
स्व-पर-संवेदन हेतु
प्रभु से निवेदन करता है, कि

जीवन का मुण्डन न हो
सुख-शान्ति का मण्डन हो,
इन की मूर्च्छा दूर हो
बाहरी भी, भीतरी भी
इन में ऊर्जा का पूर हो।

कुछ पलों के लिए
माहौल स्पन्दन-हीन होता है।
वह बोल वन्दन-लीन होता है

फिर वह
मौन टूटता है,
ऊंकार के उच्च उच्चारण के साथ !
शीतल जल करतल ले
मन्त्रित करता है अन्तर्जल्प से
मंगल-कुशलता को
आमन्त्रित करता है अन्तःकल्प से,
मूर्च्छित-मन्त्रि-मण्डल के मुख पर
मन्त्रित जल का सिंचन कर।
फिर क्या कहना !

पल में पलकों मे हलचल हुई
मुंदी आँखें खुलनी हैं,
जिस भाँति
प्रभाकर के कर-परस पाकर
अधरो पर मन्द-मुस्कान ले
सरवर में सरोजिनी खिलती हैं।

मूर्च्छा दूर होते ही
मण्डली मुक्त। से दूर भाग खडी होती,
राजा का भी स्थानान्तरण हुआ
कहीं पुनरावृति न हो जाय
इस भीति से·· !

फिर,
उत्कण्ठा नही कण्ठ में
अवरुद्ध-भरा-सा स्वर है
दबी-दबी कँपती वाणी में।
सजल लोचन लिये
कर मुकुलित किये,
विनयावनत कुम्भकार कहता है ·
"अपराध क्षम्य हो, स्वामिन् !

आप प्रजापति हैं, दयानिधान !
हम प्रजा हैं दया-पात्र,
आप पालक है, हम बालक !
यह आप की ही निधि है
हम आप की ही सन्निधि है
एक शरण !

मेरी अनुपस्थिति के कारण
आप लोगो को कष्ट हुआ,
अब पुनरावृत्ति नही होगी स्वामिन् !
आप अभय रहे।"
यूँ कहता-कहता
मुक्ता की राशि को बोरियो मे
स्वय अपने हाथों से भरता है
बिना किसी भीति से।
यह दृश्य देख कर
मण्डली-समेत राज-मुख से
तुरन्त निकलती है ध्वनि—
'सत्य-धर्म की जय हो !
सत्य-धर्म की जय हो !!'

( )

इसी प्रसग मे
प्रासगिक बात बताता है
अपक्व कुम्भ भी
प्रजापति को सकेत कर .
बाल-बाल बच गये, राजन् !
"बडे भाग्य का उदय समझो !
वरना,
जल-जल कर वाष्प बन

खो जाते शून्य में तभी के।
और
यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है—
जलती अगरबाती को
हाथ लगाने की आवश्यकता क्या थी !
अगर
अगरबाती अपनी सुरभि को
स्वय पीती,
तो·· बात निराली थी,
मगर,
सौम्य सुगन्धि को
आप की नासिका तक प्रेषित ही कर रही थी !
दूसरी बात यह भी है कि
'लक्ष्मण-रेखा का उल्लघन
रावण हो या सीता
राम ही क्यों न हो
दण्डित करेगा ही !'

अधिक अर्थ की चाह-दाह में
जो दग्ध हो गया है
अर्थ ही प्राण, अर्थ ही त्राण
यूँ—जान-मान कर,
अर्थ मे ही मुग्ध हो गया है,
अर्थ-नीति में वह
विदग्ध नही है।
"कलि-काल की वैषयिक छाँव मे
प्राय· यही सीखा है इस विश्व ने
वैश्यवृत्ति के परिवेश में—
वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!"

कुम्भ के व्यंगात्मक वचनों से
राजा का विशाल भाल
एक साथ
तीन भावों से भावित हुआ—
लज्जा का अनुरंजन,
रोष का प्रसारण-आकुंचन,
और
घटना की यथार्थता के विषय मे
चिन्ता-मिश्रित चिन्तन ।

मुख-मण्डल में परिवर्तन देख
राजा के मन को विषय बनाया,
फिर
कुम्भकार ने कुम्भ की ओर
बंकिम दृष्टिपात किया !

आत्म-वेदी, पर मर्म-भेदी
काल-मधुर, पर आज कटुक
कुम्भ के कथन को विराम मिले
··किसी भाँति,
और
राजा के प्रति सदाशय व्यक्त हो अपना
इसी आशय से ।
लो, कुल-क्रमागत
कोमल कुलीनता का
परिचय मिलता कुम्भ को !

लघु होकर गुरुजनों को
भूलकर भी प्रवचन देना
महा अज्ञान है दुःख-मुधा,
परन्तु,
रुओं से गुण ग्रहण करना

यानी
शिव-पथ पर चलेंगे हम,
यूँ उन्हें वचन देना
महा वरदान है सुख-सुधा,
और
गुरु होकर लघु जनों को
स्वप्न मे भी वचन देना,
यानी
उनका अनुकरण करना
सुख की राह को मिटाना है।

पर, हाँ !

विनय-अनुनय-समेत
यदि हित की बात पूछते हों,
पक्षपात से रहित हो
अक्षघात से रहित हो
हित-मित-मिष्ट वचनों से
उन्हें प्रवचन देना
दु:ख के दाह को मिटाना है।

शनैः शनैः
ज्वर- सूचक यन्त्र-गत
ऊपर चढ़े हुए उतरते पारा-सम !
या
उबलते-उफनते
ऊपर उठकर पात्र से बाहर
उछलने को मचलते दूध में
जल की कुछ बूँदें गिरते ही
शान्त उपशमित दूध-सम !
कुम्भ को समझाते कुम्भकार की बातो से
राजा की मति का उफान—

उद्दीपन उतरता-सा गया,
अस्त-व्यस्त-सी स्थिति
अब पूरी।
स्वस्थ-शान्त हुई देख,
फिर से निवेदन, कर-जोड़ प्रार्थना
"हे कृपाण-पाणि कृपाप्राण !
कृपापात्र पर कृपा करो
यह निधि स्वीकार कर
इस पर उपकार करो !

इसे उपहार मत समझो
यह आपका ही हार है, शृंगार
आपकी ही जीत है
इसका उपभोग-उपयोग करना
हमारी हार है, स्वामिन् !"

□

बोरियों में भरी उपरिल मुक्ता-राशि
बाहर की ओर झाँकती
कुम्भकार की इस विनय-प्रार्थना को
जो राजा से की जा रही है,
सुनती-देखती,
और
समझ भी रही है
राजा के मन की गुदगुदी को,
सम्मति की ओर झुकी
राजा की चिति की बुदबुदी को
मुख पर मन्द-मुस्कान के मिष :
हे राजन् !
पदानुकूल है, स्वीकार करो इसे—
यूँ मानो कह रही है।

परन्तु सुनो…!
मुक्ता वह नामानुकूल
न राग करती, न द्वेष से भरती
अपने आपको !
न ही मद-मान-मात्सर्य
उसे छू पाते कोई विकार !

सर्व-प्रथम प्रांगण में गिरी
आकाश मण्डल से,
फिर निरी-निरी हो बिखरी,
बोरियों में भरी गई।
सम्मान के साथ अब जा रही है
राज-प्रासाद की ओर…

मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा हो रही है,
पर
मन्त्र मुग्धा हो सुनती कब उसे ?
मुदित-मुखी महिलाओं के
संकट-हारिणी कण्ठ-हार बनती !
द्वार पर आगत अभ्यागतों के
सर पर हाथ रखती,
तारणहार तोरणद्वार बनती,
इस पर भी वह
उन्मुक्ता मुक्ता ही रहती
अहंभाव से असंपृक्ता…मुक्ता…!

कुम्भकार के निवेदन,
मुक्ता और माहौल के
सराहन-समर्थन पर
विचार करता हुआ राजा
स्वीकारोक्ति का स्वागत करता है,
सानन्द !

और
मुक्ता की दुर्लभ निधि ले
राज-कोष को और समृद्ध करता है।
□

इसी भाँति!
धरती की धवलिम कीर्ति वह
चन्द्रमा की चन्द्रिका को लजाती-सी
दशों दिशाओं को चीरती हुई
और बढ़ती जा रही है
सीमातीत शून्याकाश में।

सूरज-शूरों, वीरों की
श्रीमानों की धीमानों की
धीर-जनों की, तस्वीरों की
शिशुओं की औ पशुओं की
किशोर किस्मतवालों की
युवा-युवति, यति-यूथों की
सामन्तों की, सन्तो की
शीलाभरण सतियों की
परिश्रमी ऋषि-कृषकों की
असि-मषि कर्मकारों की
ऋषि-सिद्धि-समृद्धों की
बुद्धों की, गुणवृद्धों की
तरुवरों की, गुरुवरों की
परिमल पल्लव-पत्तों की
गुरुतर गुल्म-गुच्छों की
फल-दल कोमल फूलों की
किसलय-स्निग्ध किसलयों की
पर्वत-पर्व-तिथियों की

सदा सरकती सरिताओं की
सरवर सरसिज सुषमा की
आदि·· आदि···यूँ
भाँति-भाँति आभाओं की
धरती से सरलिम प्रीति वह
और बढ़ती जा रही है
और बढ़ती जा रही है···

□

अरे यह कौन-सी परिणति उलटी-सी !
सागर की गरलिम रीति है···
और चिढ़ती जा रही है
धरती की बढ़ती कीर्ति को देख कर !
हे सखे !
अदेसख भाव है यह
बेशक···!

कुम्भ को मिटाकर
मिट्टी में मिला-घुलाकर
मिट्टी को बहाने हेतु
प्रशिक्षिता हुई प्रेषिता थी, जो
पर-पक्ष की पूजा कर
मुक्ता की वर्षा करती
धरती के यश को और बढ़ाती हुई
लजीली-सी लौटती बदलियों को देख ।
सागर का क्षोभ पल-भर में
चरम सीमा को छूने लगा ।
लोचन लोहित हुए उसके,
भृकुटियाँ तन गईं
गम्भीरता भीरुता में बदलती है

भविष्य का भाल भला नहीं दिखा उसे
और
कषाय-कलुषित मानसवाला
यूँ सोचता हुआ सागर
कुछ मनोभाव व्यक्त करता है
कि :
"स्वस्त्री हो या परस्त्री,
स्त्री-जाति का स्वभाव है,
कि
किसी पक्ष से चिपकी नहीं रहती वह।
अन्यथा,
मातृभूमि मातृ-पक्ष को
त्याग-पत्र देना खेल है क्या?
और वह भी...
बिना संक्लेश, बिना आयास!
यह
पुरुष-समाज के लिए
टेढ़ी खीर ही नहीं,
त्रिकाल असम्भव कार्य है!
इसीलिए भूलकर भी
कुल-परम्परा संस्कृति का सूत्रधार
स्त्री को नहीं बनाना चाहिए।
और
गोपनीय कार्य के विषय में
विचार-विमर्श-भूमिका
नहीं बताना चाहिए।

धरती के प्रति वैर-वैमनस्य-भाव
गुरुओं के प्रति गर्वीली दृष्टि
सबको अधीन रखने की

अदम्य आकांक्षा
सर्व-भक्षिणी वृत्ति ··
सागर की यह स्थिति देख
सतेज प्रभाकर से
सहा नहीं गया यह सब !
अतः उसने
सागर-तल के रहवासी
तेज तत्त्व को सूचित किया
गूढ संकेतो से सचेत किया
जो प्रभाकर से ही शासित था,
जातीयता का साम्य भी था जिसमें;
परिणामस्वरूप तुरन्त
बड़वानल भयकर रूप ले खौल उठा,
और
'हे क्षार का पारावार सागर,
तुझे पी डालने में
एक पल भी पर्याप्त है मुझे'
यूँ बोल उठा ।

आवश्यक अवसर पर
सज्जन-साधु पुरुषों को भी,
आवेश-आवेग का आश्रय लेकर ही
कार्य करना पडता है ।
अन्यथा,
सज्जनता दूषित होती है
दुर्जनता पूजित होती है
जो शिष्टों की दृष्टि में इष्ट कब रही ··'

कथनी और करनी में बहुत अन्तर है,
जो कहता है वह करता नहीं

और
जो करता है वह कहता नहीं,
यूँ ठहाका लेता हुआ
सागर व्यंग कसता है पुनः
"ऊपर से सूरज जल रहा है
नीचे से तुम उबल रहे हो !
और
बीच मे रहकर भी यह सागर
कब जला, कब उबला ?
इसका शीतल-शील·· यह
कब बदला···?

हाय रे !
शीतल योग पाकर भी
शीतल कहाँ बने तुम ?
तुमने उष्णत्व को कब उगला ?

दूसरी बात यह भी है कि,
तुम्हारी उष्ण प्रकृति होने से
सदा पित्त कुपित रहता है
तथा चित्त क्षुभित रहता है,

अन्यथा
उन्मत्तवत् तुम
यद्वा-तद्वा बकते क्यों ?
पित्त-प्रशमन हेतु
मुझसे याचना कर, सुधाकर-सम
सुधा-सेवन किया करो
और
प्रभाकर का पक्ष न लिया करो !"

□

कूट-कूट कर सागर में
कूट-नीति भरी है।
पुनः प्रारम्भ होता है पुरुषार्थ।
पृथिवी पर प्रलय करना
प्रमुख लक्ष्य है ना !

इसीलिए इस बार
पुरुष को प्रशिक्षित किया है
प्रचुर - प्रभूत समय देकर।
और वह पुरुष हैं—
'तीन घन-बादल'
बदलियाँ नहीं दल-बदलने वाली
झट से दया से पिघलने वाली।

शुभ-कार्यों में विघन डालना ही
इनका प्रमुख कार्य रहा है।
इनका जघन परिणाम है,
जघन ही काम !
और
'घन' नाम !

सागर में से उठते-उठते
क्षारपूर्ण नीर-भरे
क्रम-क्रम से वायुयान-सम
अपने-अपने दलों सहित
आकाश में उड़ते हैं।
पहला बादल इतना काला है
कि जिसे देखकर
अपने सहचर-साथी से बिछुड़ा
भ्रमित हो भटका भ्रमर-दल,
सहचर की शंका से ही मानो
बार-बार इस से आ मिलता

और
निराश हो लौटता है
यानी
भ्रमर से भी अधिक काला है
यह पहला बादल-दल।

दूसरा ··दूर से ही
विष उगलता विषधर-सम नीला
नील-कण्ठ, लीला-वाला —
जिस की आभा से
पका पीला धान का खेत भी
हरिताभा से भर जाता है !
और,
अन्तिम-दल
कबूतर रंग-वाला है।
यूँ ये तीनों,
तन के अनुरूप ही मन से कलुषित हैं।

इन की मनो-मीमांसा लिखी जा रही है :
चाण्डाल-सम प्रचण्ड शील वाले हैं
घमण्ड के अखण्ड पिण्ड बने हैं,
इनका हृदय अदय का निलय बना है,
रह-रह कर कलह
करते ही रहते हैं ये,
बिना कलह भोजन पचता ही नहीं इन्हें !
इन्हें देख कर दूर से ही
भूत भाग जाते हैं भय से,
भयभीत होती अमावस्या भी इन से
दूर कहीं छुपी रहती वह;
यही कारण है कि
एक मास में एक ही बार—
बाहर आती है आवास तजकर।

निशा इनकी बहन लगती है,
सागर से शशि की मित्रता हुई
अपयश - कलक का पात्र बना शशि
किसी रूपवती सुन्दरी से
सम्बन्ध नही होने से
शशि का सम्बन्ध निशा के साथ हुआ,
सो···सागर को श्रेय मिलता यह !

मोह-भूत के वशीभूत हुए
कभी किसी तरह भी
किसी के वश मे नही आते ये,
दुराशयी है, दुष्ट रहे है
दुराचार से पुष्ट रहे हैं,
दूसरों को दुःख देकर
तुष्ट होते है, तृप्त होते हैं,
दूसरों को देखते ही
रुष्ट होते हैं, तप्त होते हैं,
प्रतिशोध की वृत्ति इन की
सहजा - जन्मजा है
वैर-विरोध की ग्रन्थि इन की
खुलती नही झट से।
निर्दोषों में दोष लगाते हैं
संतोषों में रोष जगाते हैं
वन्द्यों को भी निन्दा करते हैं
शुभ कर्मों को अन्धे करते हैं,

सुकृत की सुषमा-सुरभि को
सूंघना नहीं चाहते भूलकर भी,
विषयों के रसिक बने हैं
कषाय-कृषि के कृषक बने हैं
जल-धर नाम इनका सार्थक है।

जड़त्व को धारण करने से जो
मति-मन्द मदान्ध बने हैं।

यद्यपि इनका नाम पयोधर भी है,
तथापि
विष ही वर्षाते हैं वर्षाऋतु में ये।
अन्यथा,
भ्रमर-सम काले क्यों हैं ?
यह बात निराली है कि
वसुधा का समागम होते ही
'विष' सुधा बन जाता है
और यह भी एक शंका होती है, कि
वर्षा-ऋतु के अनन्तर शरद् ऋतु में
हीरक-सम शुभ्र क्यों होते…?

□

उपाय की उपस्थिति ही
पर्याप्त नहीं,
उपादेय की प्राप्ति के लिए
अपाय की अनुपस्थिति भी अनिवार्य है।
और वह
अनायास नहीं, प्रयास-साध्य है।

इस कार्य-कारण की व्यवस्था को
स्मरण में रखते हुए ही
सर्व प्रथम वह बादल-दल
देखते-देखते पलभर में
अपने पथ में बाधक बने
प्रभाकर से जा भिड़ते हैं
और
घन घमण्ड-घुले

गुरु-गर्जन करते कहते हैं कि,
"धरती का पक्ष क्यों लेता है ?
सागर से क्यों चिढ़ता है ?

अरे खर प्रभाकर, सुन !
भले ही गगनमणि कहलाता है तू,
सौर-मण्डल देवता-ग्रह—
ग्रह-गणों में अग्र
तुझमें व्यग्रता की सीमा दिखती है
अरे उग्रशिरोमणि !
तेरा विग्रह···यानी—
देह-धारण करना वृथा है।
कारण,
कहाँ है तेरे पास विश्राम-गृह ?
तभी···तो
दिन भर दीन-हीन-सा
दर-दर भटकता रहता है !
फिर भी
क्या समझ कर साहस करता है
सागर के साथ विग्रह-संघर्ष हेतु ?

अरे, अब तो
सागर का पक्ष ग्रहण कर ले,
करले अनुग्रह अपने पर,
और,
सुख-शान्ति-यश का संग्रह कर !
अवसर है,
अवसर से काम ले
अब, सर से काम ले !
अब···तो···छोड़ दे उलटी धुन
अन्यथा,

'ग्रहण' की व्यवस्था अविलम्ब होगी ।
अकीर्ति का कारण कदाग्रह है
कदाग्रही को मिलता आया है
चिर से कारागृह वह !

□

कठोर कर्कश कर्ण-कटु
शब्दों की मार सुन
दशों-दिशाये बधिर हो गईं,
नभ-मण्डल निस्तेज हुआ
फैले बादल-दलों में डूब-सा गया
अवगाह-प्रदाता अवगाहित-सा हो गया !

और,
प्रभाकर का प्रभा-मण्डल भी
कुछ-कुछ निष्प्रभ हुआ कहता है,
कि
'अरे ठगो, औरों को ठग कर
ठहाका लेनेवालो,
अरे, खण्डित जीवन जीनेवालो,
पाखण्ड-पक्ष ले उड़नेवालो !
रहस्य की यह बात समझने में
अभी समय लगेगा तुम्हें !

गन्दा नहीं,
बन्दा ही भयभीत होता है
विषम-विघन संसार से—
और,
अन्धा नहीं,
आँख-वाला ही भयभीत होता है
परम-सघन अन्धकार से ।

हिंसा की हिंसा करना ही
अहिंसा की पूजा है·· प्रशंसा,
और
हिंसक की हिंसा या पूजा
नियम से
अहिंसा की हत्या है···नृशंसा।
धी-रता ही वृत्ति वह
धरती की धीरता है
और
काय-रता ही वृत्ति वह
जलधि की कायरता है।

यूँ,
मही की मूर्धन्यता को
अर्चना के कोमल फूलों से
और
जलधि की जघन्यता को
तर्जना के कठोर शूलों से
पदोचित पुरस्कृत करता
प्रभाकर फिर
स्वाभिमान से भर आया,
जितनी थी उतनी हो पूरी-की-पूरी
उसकी तेज उष्णता वह
उभर आई ऊपर।
रुधिर में सनी-सी, भय की जनी
ऊपर उठी-तनी भृकुटियाँ
लपलपाती रसना बनी, मानो
आग की बूँदें टपकाती हों,
बनी···कहीं···
'नहीं, नहीं, किसी को छोड़ूँगी नहीं।'

यूँ गरजती
दावानल-सम धधकती बनी-सी बनी···
सही-सही समझ में नहीं आता।

पूरी खुली दोनों आँखों में
लावा का बुलावा है क्या ?
भुलावा है यह !
बाहर घूर रहा है ज्वालामुखी
तेज तत्त्व का मूल-स्रोत
विश्व का विद्युत्-केन्द्र।

ससार के कोने-कोने में
तेज तत्त्व का निर्यात यहीं से होता है,
जिसके अभाव में यातायात ठप्
जड़-जंगमों का !
चारों ओर अंधकार, घुप्···।

□

निन्दा की दृष्टि से निरखने में निरत
निकट नीचे आये
नीच-निराली नीति वाले
बादल-दलों को जलाने हेतु—
प्रभाकर के प्रयास को निरख
सागर ने राहु को याद किया,
और कहा :

"प्रभाकर की उद्दण्डता कब तक चलेगी
(पृथिवी से प्रभावित प्रभाकर)
सौर-मण्डल की शालीनता को
लीलता जा रहा वह !
धरती की सेवा में निरत हुआ
पृथिवी से प्रभावित प्रभाकर

क्या आपसे परिचित नहीं ?
क्या मृगराज के सम्मुख जा
मनमानी करता है मृग भी ?…

क्या मानी बन मेंढक भी
विषधर के मुख पर जा
खेल खेल सकता है ?
कहीं ऐसा तो नहीं कि
धरती की सेवा के मिष
आपका उपहास कर रहा हो !

कुछ भी हो, कुछ भी लो,
मन-चाहा, मुँह-माँगा !
माँग पूरी होगी सम्मान के साथ,
यह अपार राशि राह देख रही है।

शिष्टों का उत्पादन - पालन हो
दुष्टों का उत्पातन - गालन हो,
सपदा की सफलता वह
सदुपयोगिता में है ना !

राह में राशि मिलती देख
राहु गुमराह-सा हो गया
हाय !
राहु की राह ही बदल गई
और
चुपचाप यह सब पाप
होता रहा दिनदहाड़े—
सरासर सागर से निर्यात
सौर-मण्डल की ओर…!

यान में भर-भर
झिल-मिल, झिल-मिल
अनगिन निधियाँ

ऐसी हँसती धवलिम हँसियाँ
मनहर हीरक मौलिक-मणियाँ
मुक्ता-मूंगा माणिक-छवियाँ
पुखराजों की पीलिम पटियाँ
राजाओं में राग उभरता
नीलम के नग रजतिम छड़ियाँ।

सागर-पक्ष का समर्थन हुआ
राहु राजी हुआ, राशि स्वीकृत हुई
सो · दुर्बलता मिटी
सागर का पक्ष सबल हुआ।
जब
राहु का घर भर गया
अनुद्यम-प्राप्त अमाप निधि से।
तब
राहु का सर भर गया
विष-विषम पाप-निधि से।
यानी
अस्पृश्य-निधि के स्पर्श से
राहु इतना काला हो गया, कि
वह दुर्दर्श्य हो गया पाप-शाला
क्षीणतम सुकृत वाला
दृश्य नहीं रहा दर्शकों के
स्पर्श्य नहीं रहा स्पर्शकों के!

लो, विचारों में समानता घुली,
दो शक्तियाँ परस्पर मिली।
गुरवेल तो कड़वी होती ही है
और नीम पर चढ़ी हो
तो कहना ही क्या!

भली-बुरी भविष्य की गोद में है
करवटें लेती पड़ी अभी !
इस पर भी
दोनों के मन में चैन कहाँ—
आकुलता कई गुनी बढ़ी है ।

दिन में, रात में
प्रकाश मे, तम में
आँख बन्द करके भी
दोनों प्रलय ही देखते हैं,
प्रलय ही इनका भोजन रहा है
प्रलय ही प्रयोजन…!

[]

धरती के विलय में
निलय कैसे मिलेगा ?
और कहाँ वह जीवन-साधन…?
धरती की विजय में
अभय किसे न मिलेगा ?
और यहाँ जीवन-सा धन !

हमें, तुम्हे और उन्हें
यहाँ कोई चाहे जिन्हें ।
हाय, परन्तु !
कहाँ प्राप्त है इस
विचार का विस्तार इन्हें ?
कुटिल व्याल-चालवाला
कराल-काल गालवाला
साधु-बल से रहित हुआ
बाहु-बल से सहित हुआ ।

वराह-राह का राही राहु
हिताहित-विवेक-वंचित
स्वभाव से क्रूर, क्रुद्ध हुआ
रौद्र-पूर, रुष्ट हुआ
कोलाहल किये बिना
एक-दो कवल किये बिना
बस, साबुत ही
निगलता है प्रताप-पुंज प्रभाकर को।

सिन्धु में बिन्दु-सा
माँ की गहन-गोद में शिशु-सा
राहु के गाल में समाहित हुआ भास्कर।
दिनकर तिरोहित हुआ···सो
दिन का अवसान-सा लगता है
दिखने लगा दीन-हीन दिन
दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृही-सा।

यह सन्ध्याकाल है या
अकाल में काल का आगमन !
तिलक से विरहित
ललना-ललाट-तल-सम
गगनांगना का आँगन
अभिराम कहाँ रहा वह ?

दिशाओं की दशा बदली
जीर्ण-ज्वर-ग्रसित काया-सी।

कमल-बन्धु नहीं दिखा सो···
कमल-दल मुकुलित हुआ
कमनीयता में कमी आई अक्रम· !
वन का, उपवन का जीवन वह
मिटता-सा लगता है,
और

पवन का पीवन-संजीवन
लुटता-सा लगता है।
अग्नि मित्र है ना पवन का !
तेज तत्त्व का स्रोत है ना सूर्य !

अरुक, अथक पथिक होकर भी
पवन के पद थमे हैं आज
मित्र की आजीविका लुटती देख।

मासूम ममता की मूर्ति
स्वैर-विहारी स्वतन्त्र-संज्ञी
संगीत-जीवी संयम-तन्त्री
सर्व-संगों से मुक्त··· निःसंग
अंग ही संगीती - संगी जिस का
संघ-समाज-सेवी
वात्सल्य-पूर वक्षस्तल !
तमो-रजो अवगुण-हनी
सतो-गुणी, श्रमगुण-धनी
वैर-विरोधी वेद-बोधि
संध्या की शंका से आकुल
आकस्मिक भय से व्याकुल
जिसके पंख भर आये हैं
श्लथ पक्षी-दल वह
विहंगम दृश्य-दर्शन छोड
अपने-अपने नीड़ों पर आ
मौन बैठ जाता है जिसका तन,
और
चिन्ता की सुदूर···गहनता में
पैठ जाता है जिसका मन !

कम्पित हैं अनुकम्पा से अनुक्षण
सो···तन में कम्पन है,

अन्दर के आर्द्र-कण
आर्त के कारण बाहर आ-आकर
क्रन्दन कर रहे हैं !

ये तो कल के ही कर्ण हैं
परन्तु, खेद है कल का रव
कहाँ है वह कलरव ?
कलकण्ठ का कण्ठ भी कुण्ठित हुआ
वन - उपवन - नन्दन में
केवल भर-भर आया है
करुण क्रन्दन आक्रन्दन !

काक - कोकिल - कपोतों में
चील - चिड़िया - चातक - चित में
बाघ - भेड़ - बाज - बकों में
सारंग - कुरंग - सिंह - अग मे
खग - खरगोशों - खरों - खलों में
ललित-ललाम - लजील लताओं में
पर्वत - परमोन्नत शिखरों में
प्रौढ़ पादपों औ' पौधों में
पल्लव-पातों, फल-फूलों में
विरह-वेदना का उन्मेष
देखा नहीं जाता निमेष भी
सो…
संकल्प लिया पछी-दल ने—
सूर्य-ग्रहण का संकट यह
जब तक दूर नहीं होगा
तब तक भोजन-पान का त्याग !
जन-रंजन, मनरजन का त्याग !
और तो और,
अजन-व्यंजन का भी !

□

भूचरों नभश्चरों का
हा-हाकार सुनकर
राहु के मुख में छटपटाते
दिनकर को देखकर
बादल के दिल को बल मिला,
कहीं
कई गुणा खून बढ़-सा गया उसका !

पर-पक्ष के पराभव में
ऐसा होता ही है,
पर, होना नहीं चाहिए;
और
स्व-पक्ष के पराभव मे
दिल पर दौरा पड़ता है
यह सब जग की जड़ता है।

अब मेघों के वर्षण को
कौन रोक सकता है ?
अब मेघों के हर्षण को
कौन रोक सकता है ?
प्रलय-कारिणी वर्षा की भूमिका
पूरी बन पड़ी है यथास्थान—
यूँ कहते माहौल को देख,

जब हवा काम नहीं करती
तब दवा काम करती है,
और
जब दवा काम नहीं करती
तब दुआ काम करती है
परन्तु,
जब दुआ भी काम नहीं करती
तब क्या रहा शेष ?

कौन सहारा ?···सो सुनो !
दृढ़ा ध्रुवा संयमा-आलिंगिता
यह जो चेतना है—
स्वयंभुवा काम करती है,
यूँ सोचती हुई धरती को
विनय-अनुनय से कहते हैं
कण-कण ये :

"माँ के मान का सम्मान हो
राघव-वंश के अंश हैं ये,
लाघव-वंश के प्रशंसक भी
परन्तु,
अहं के संस्कार से संस्कारित
गारव-वंश के ध्वंसक हैं, माँ !

हुए, हो रहे, और होंगे
जिस वंश में हंस परमहंस
उस वंश की स्मृति विस्मृत न हो, माँ !
वंश-परम्परा की परिचर्या
करने दो इसे,
मात्र परिचर्चा
रहने दो उसे,
श्रम का भाजन रहो···जो !

सरस भाषण की अपेक्षा
नीरस भोजन ही आज
स्वादपूर्ण, स्वास्थ्य-वर्द्धक
लग रहा है इसे।"

जगद्हितैषिणी माँ के
मंगलमय चरण-कमलों में
मस्तक धरते, करते नमन

और
माँ के मुख से मंगलमय
आशीर्वचन सुनते यूँ :
पाप-पाखण्ड पर प्रहार करो
प्रशस्त पुण्य स्वीकार करो !

□

दृढ़मना श्रमण-सम सक्षम
कार्य करने कटिबद्ध हो
अथाह उत्साह साथ ले
अनगिन कण ये उड़ते हैं
थाह-शून्य शून्य में… !

रणभेरी सुनकर
रणांगन में कूदने वाले
स्वाभिमानी स्वराज्य-प्रेमी
लोहित-लोचन उद्भट-सम
या
तप्त लौह-पिण्ड पर
घन-प्रहार से, चट-चट छूटते
स्फुलिंग अनुचटन-सम
लाल-लाल ये धरती-कण
क्षण-क्षण में एक-एक होकर भी
कई जलकणों को, बस
सोखते जा रहे हैं,
सोखते जा रहे हैं…
पूरा बल लगाकर भी
भू-कणों की राशि को
चीर-चीर कर इस पार
भू-तक नहीं आ पाये जल-कण।

ऊपर से नीचे की ओर गिरते
अनगिन जल-कणों से,
नीचे से ऊपर की ओर उड़ते
अनगिन भू-कणों का
ज़ोरदार टकराव !
परिणाम यह हुआ, कि
एक-एक जल-कण
कई कणों में विभाजित होते—
ज़ोरदार बिखराव !
चारों ओर ज़ोर···शोर ·
और
छोर-शून्य सौरमण्डल में
धूम्रदार घिराव···!

घनों के ऊपर विघन छा गया
भू-कण सघन होकर भी
अघ से परे अनघ रहे,
घनों के कण अनघ कहाँ ?
अघों के भार, सौ-सौ प्रकार
सो भयभीत हो भाग रहे,
और
भू-कण ये भूखे-से
काल बन कर,
भयंकर रूप ले
जल-कणों के पीछे भाग रहे हैं।
इस अवसर पर इन्द्र भी
अवतरित हुआ, अमरों का ईश।
परन्तु
उसका अवतरण गुप्त रहा
दृष्टिगोचर नहीं हुआ वह,

केवल धनुष दिख रहा
कार्यरत इन्द्रधनुष !

महापुरुष प्रकाश में नहीं आते
आना भी नहीं चाहते,
प्रकाश-प्रदान में ही
उन्हें रस आता है।
यह बात निराली है, कि
प्रकाश सब को प्रकाशित करेगा ही
स्व हो या पर, 'प्रकाश्य' भर को···!
फिर, सत्ता-शून्य वस्तु भी कहाँ है?
फिर, यह भी सम्भव कहाँ
कि
सत्ता हो और प्रकाशित न हो?
इन्द्र-सम यही चाहता है 'यह' भी।

मैं यथाकार बनना चाहता हूँ
व्यथाकार नहीं।
और
मैं तथाकार बनना चाहता हूँ
कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—
कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक
जागृत···जीवित···अजित !
सहज प्रकृति का वह
शृंगार - श्रीकार
मनहर आकार ले
जिसमें आकृत होता है।
कर्ता न रहे, वह
विश्व के सम्मुख कभी भी

विषम - विकृति का वह
क्षार-दार संसार
अहंकार का हुँकार ले
जिसमें जागृत होता है।
और
हित स्व-पर का यह
निश्चित निराकृत होता है !

□

आज इन्द्र का पुरुषार्थ
सीमा छू रहा है,
दाहिने हाथ से धनुष की डोर को
दाहिने कान तक पूरा खींचकर
निरन्तर छोड़े जा रहे
तीखे सूचीमुखी बाणों से
छिदे जा रहे, भिदे जा रहे,
विद्रूप-विदीर्ण हो रहे हैं
बादल-दलों के बदन सब।
बर्बर मर्मर-सी हो आई स्थिति उनकी
दयनीय-सी गति, रुलाई आती है !
जहाँ देखें वहाँ
धू-कण ही धू-कण
थोड़े से ही शेष हैं जल-कण।
यही कारण है कि
सागर ने फिर से प्रेषित किये
जल-भरे लबालब बादल-दल,
और साथ ही साथ
आगे क्या करना,
यह भी सूचित किया है।

सूचित भावानुसार तुरन्त,
बादलों ने बिजली का उत्पादन किया,
क्रोध से भरी बिजली कौंधने लगी
सब की आँखें ऐसी बन्द हो गईं
चिपक गई हों गोंद से कहीं !
सूझबूझ बुझ-सी गई सबकी
औरों की क्या कथा,
निसर्ग से अनिमेष रहा इन्द्र भी
निमिष-भर में निमेषवाला बन गया,
यानी
इन्द्र की आँखें भी
बार-बार पलक मारने लगीं।
तभी इन्द्र ने आवेश में आ कर
अमोघ अस्त्र वज्र निकाल कर
बादलों पर फेंक दिया।

वज्राघात से आहत हो
मेघों के मुख से 'आह' ध्वनि निकली,
जिसे सुनते ही
सौर-मण्डल बहरा हो गया।

रावण की भाँति चीखना
मेघों का रोना वह
अपशकुन सिद्ध हुआ सागर के लिए,
और
आग-उगलती बिजली की आँखों में
भूरि-भूरि धूलि-कण
घुस-घुस कर
दुःसह दुःख देने लगे।
ऐसी विषम-स्थिति को देख
बिजली भी कँपने लगी,
इसी कारण से शायद

चला-चपला पलायुवाली
बनी हो बिजली !

इस दुर्घटना को देख,
तुरन्त,
सागर से पुनः सूचना मिलती है
भयभीत बादलों को, कि
इन्द्र ने अमोघ अस्त्र चलाया
तो···तुम
रामबाण से काम लो !

पीछे हटने का मत नाम लो
ईंट का जवाब पत्थर से दो !
विलम्ब नहीं, अविलम्ब
ओला-वृष्टि करो···उपलवर्षा !

लो, फिर से बादलों में स्फूर्ति आई
स्वाभिमान सचेत हुआ
ओलों का उत्पादन प्रारम्भ !
सो···ऐसा लग रहा है
उत्पादन नहीं, उद्घाटन-अनावरण हुआ है
अपार भण्डार का कहीं !

लघु-गुरु अणु-महा
त्रिकोण-चतुष्कोण वाले
तथा पाँच पहलू वाले
भिन्न-भिन्न आकार वाले
भिन्न-भिन्न भार वाले
गोल-गोल सुडौल ओले
क्या कहे, क्या बोले,
जहाँ देखो वहाँ ओले
सौर-मण्डल भर गया !

सो···यह लेखनी तुलना करने बैठी
सौर और भूमण्डल की :
ऊपर अणु की शक्ति काम कर रही है
तो इधर···नीचे
मनु की शक्ति विद्यमान !
ऊपर यन्त्र है, घुमड़ रहा है
नीचे मन्त्र है, गुनगुना रहा है
एक मारक है
एक तारक;
एक विज्ञान है
जिसकी आजीविका तर्कणा है,
एक आस्था है
जिसे आजीविका की चिन्ता नहीं,
एक अधर में लटका है
उसे आधार नहीं पैर टिकाने,
एक को धरती की शरण मिली है
यही कारण है, ऊपर वाले के पास
केवल दिमाग है, चरण नहीं···
हो सकता है दीमक खा गये हों
उसके चरणों को···!
नीचे वाला चलता भी है
प्रसंग वश ऊपर भी चढ़ सकता है;
हाँ !
ऊपरवाले का दिमाग चढ़ सकता है
तब वह
विनाश का,
पतन का ही पाठ पढ़ सकता है।

यह भी सर्व-विदित है कि
प्रश्न-चिह्न ऊपर ही

लटका मिलता है सदा,
जबकि
पूर्ण-विराम नीचे।
प्रश्न का उत्तर नीचे ही मिलता है
ऊपर कदापि नहीं…
उत्तर में विराम है, शान्ति अनन्त।
प्रश्न सदा आकुल रहता है
उत्तर के अनन्तर प्रश्न ही नहीं उठता,
प्रश्न का जीवन-अन्त—
सिन्धु में बिन्दु विलीन ज्यों…!

लेखनी से हुई इस तुलना मे
अपना अवमूल्यन जान कर हो मानो,
निर्दय हो टूट पड़े
भू-कणों के ऊपर अनगिन ओले।
प्रतिकार के रूप में
अपने बल का परिचय देते
मस्तक के बल भू-कणों ने भी
ओलों को टक्कर देकर
उछाल दिया शून्य में
बहुत दूर…धरती के कक्ष के बाहर,
'आर्यभट्ट', 'रोहिणी' आदिक
उपग्रहों को उछाल देता है
यथा प्रक्षेपास्त्र!

इस टकराव से कुछ ओले तो
पल भर में फूट-फूट कर
बहु भागों में बँट गये,
और वह दृश्य

ऐसा प्रतीत हो रहा है, कि
स्वर्गों से बरसाई गई
परिमल-पारिजात पुष्प-पाँखुरियाँ ही
मंगल मुस्कान बिखेरतीं
नीचे उतर रही हों, धीरे-धीरे !
देवों से धरती का स्वागत-अभिनन्दन ज्यों।

ओलों को कुछ पीड़ा न हो,
यूँ विचार कर ही मानो
उन्हें मस्तक पर लेकर
उड़ रहे हैं भू-कण !
सो···ऐसा लग रहा, कि
हनूमान अपने सर पर
हिमालय ले उड़ रहा हो !

यह घटना-क्रम
घण्टों तक चलता रहा···लगातार,
इसके सामने 'स्टार-वार'
जो इन दिनों चर्चा का विषय बना है
विशेष महत्त्व नहीं रखता।

ऊपर घटती इस घटना का अवलोकन
खुली आँखों से कुम्भ-समूह भी कर रहा।
पर,
कुम्भ के मुख पर
भीति का लहर-वैषम्य नहीं है
सहज-साक्षी भाव से, बस
सब कुछ संवेदित है
सरस-गरल, सकल-शकल सब !

इस पर भी
विस्मय की बात तो यह है
कि,

एक भी ओला नीचे आकर
कुम्भ को भग्न नहीं कर सका !
जहाँ तक हार-जीत की बात है—
भू-कणों की जीत हो चुकी है
और
बादलों-ओलों के गले में
हार का हार लटक रहा है
सुरभि-सुगन्धि से रहित
मृतक मुरझाया हुआ।

तथापि,
नये-नये बादलों का आगमन
नूतन ओलों का उत्पादन
बीच-बीच में बिजली की कौंध
संघर्ष का उत्कर्षण-प्रकर्षण
कलह कशमकश धूर्तता
सागर के विषम-सकेत क्रूरता
आदि-आदि यह सब
पराभव के बाद बढ़ता हुआ दाह-परिणाम है,
क्रोध का पराभव होना सहज नहीं।

□

इस प्रतिकूलता में भी
भूखे भू-कणों का साहस अद्भुत है,
त्याग-तपस्या अनूठी !
जन्म-भूमि की लाज
माँ-पृथिवी की प्रतिष्ठा
दृढ़ निष्ठा के बिना
टिक नहीं सकती,
रुक नहीं सकती यहाँ,

लुट जाती तभी की
इस विषय को स्मृति में लाता हुआ
उपास्य की उपासना में डूबता वह शिल्पी—
किसी बात की माँग नहीं की आज तक उसने ।

इसका अर्थ यह नहीं कि
यहाँ कोई पीड़ा ही नहीं,
अभाव का अनुभव नहीं हो रहा हो;
हाँ,
अर्थ का अभाव कोई अभाव नहीं है
और
प्रभु से अर्थ की माँग करना भी
व्यर्थ है ना !

जो आपके पास है ही नही
रखना ही नहीं चाहते
उसकी क्या माँग ?
परन्तु,
परमार्थ का अभाव
असह्य हो उठा है इस में, विभो !
इस अभाव का अभाव कब हो ?

किसी विशेष कारणवश
शोकाकुल हो शान्त थक कर
शवासन से सोये हुए
किशोर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिसकन में ही
घनीभूत दुःख की गन्ध आती है
वह भी माँ की नासा को ।
उस की श्वसन-प्रणाली का सरकन
आरोहण-अवरोहण का श्रवण
माँ की श्रवणा ही कर सकती है।

पहने कपड़ों को नहीं फाड़ रहा है
हाथ-पैर नहीं पछाड़ रहा है धरा पर,
और
मुख-मुद्रा को विकृत करता हुआ
आक्रोश के साथ क्रन्दन नहीं कर रहा है,
इसी कारण उसमें
दुःख के अभाव का निर्णय लेना
सही निर्णय नहीं माना जा सकता।

माँग—दुःख का अभिव्यक्तिकरण
नहीं है यहाँ
किन्तु
दुःख की घटाओं से आच्छन्न है
अन्दर का आकाश !
इसका दर्शन यदि
अन्तर्यामी को भी नहीं होगा,
तो फिर…

किस की आँखे हैं वे
इसे देख सकें
और तुरन्त ही
सजल हो सांत्वना दे सकें ?

माँ-धरती का मान पच जाय, प्रभो !
जल का मान पच जाय, विभो !
परीक्षा की भी सीमा होती है
अति-परीक्षा भी प्रायः
पात्र को विचलित करती है पथ से,
पाथेय के प्रति प्रीति भी घटती है।
बार-बार दीर्घ श्वास लेने से
धैर्य-साहस का बाँध हिलता है
दरार की पूरी सम्भावना है।

हाय !
अकाल में ही जीवन से
हाथ धोना पड़ेगा क्या ?
दिन-पर-दिन कटते गये
…कई दिन !
जब कारण ज्ञात हुआ शिल्पी के अदर्शन का
प्रेमभरी मन्द-मुस्कान
लाड़-प्यार की बात ।
गात पर हाथ सहलाता
कोमल कर-पल्लवों का सहलाव
संगीत के साथ आत्मसात् कराता
शीतल सलिल का स्नेहिल सिंचन…
यह सब अतिशय अतीत का,
स्मृति का विषय बन झलक आया
गुलाब-पौध के समक्ष ।
और
पौध ने दृष्टिपात किया तुरन्त !
सुदूर…प्रांगण में आसीन शिल्पी की ओर,
जो
भोग-भुक्ति से ऊब गया है
योग-भक्ति में डूब गया है,
उस की मति वह
प्रभु-चरणों की दासी बनी है,
पर
मुखाकृति पर पतली हल्की-सी
उदासी बसी है !
धर्म-संकट में पड़े स्वामी को देख
गुलाब-पौध बोल उठा :
"इस संकट का अन्त निकट हो,

विकट से विकटतम संकट भी
कट जाते हैं पल भर में;
आप को स्मरण में लाते ही
फिर तो प्रभो !
निकट-निकटतम निरखता
आप को हृदय में पाते भी
विलम्ब क्यों हो रहा है,
आर्य के इस कार्य में···?"

□

इसी अवसर पर, यानी
आगत संकट पर ही
गुलाब के काँटे भी दाँत कटकटाते हैं,
कर्ण-कटु कुछ कहते यूँ :
"अरे संकट !
हृदय-शून्य छली कहीं का !
कंटक बन मत बिछ जा ?
निरीह-निर्दोष-निश्छल
नीराग पथिकों के पथ पर !
अपना हठ छोड़,
अब तो हट जा
पथ से दूर···कहीं चला जा,
वरना,
काँटे से ही काँटा निकाला जाता है—
यह पता नहीं तुझे ?
ध्यान रख,
कुछ ही पलों में पता ही न चलेगा तेरा !"
और
इसी बीच इसी विषम में
डाल पर लटकता फूल—

विशेष सक्रिय हो जाता है
न ही काँटे की बात काटता है
न ही काँटे को डाँटता है,
परन्तु
समयोचित बात करता है
काँटे के उद्वेग-ऊष्मा के
उपशमन हेतु ।

जब सुई से काम चल सकता है
तलवार का प्रहार क्यों ?
जब फूल से काम चल सकता है
शूल का व्यवहार क्यों ?
जब मूल में भूतल पर रह कर ही
फल हाथ लग रहा है
तब चूल पर चढ़ना
मात्र शक्ति-समय का अपव्यय ही नहीं,
सही मूल्यांकन का अभाव भी सिद्ध करता है ।
यूँ, गन्ध-निधान गुलाब
नीति-नियोग की विधि बताता
प्रीति-प्रयोग की निधि दिखाता
अपने अभिन्न अनन्य मित्र
अणु-अणु से, कण-कण से
सुरभि का परिचय कराता
दिवि-दिगंतों तक फैला कर
गन्ध-वाहक पवन का स्मरण करता है ।

कुछेक क्षण निकलते, कि
विनय - विश्वास विचारशील
प्रकृति के अनुरूप प्रकृति वाला
वन-उपवन विचरण-धर्मा

वसन्त-वर्षा-तुषार-धर्मा
सब ऋतुओं में समान-कर्मा
जीवन के क्षण-क्षण में
मैत्रिक-भाव का आस्वादन करता
जीवन के क्षण-क्षण में
पैत्रिक-भाव का अभिवादन करता
पवन का आगमन हुआ ।

ऐसे व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ही
संतों की ये पंक्तियाँ मिलती हैं, कि
'जिसकी कर्त्तव्य निष्ठा वह
काष्ठा को छूती मिलती है
उसकी सर्वमान्य प्रतिष्ठा तो···
काष्ठा को भी पार कर जाती है ।'

□

लो, स्मरणमात्र से ही
मित्र का मिलन हुआ · सो
गुलाब फूला न समाया
मुदित-मुख
आमोद झूला झूलने लगा,
परिणाम यह हुआ—
आगत मित्र का स्वागत स्वयमेव हुआ ।

फूल ने पवन को
प्रेम में नहला दिया,
और
बदले में
पवन ने फूल को
प्रेम से हिला दिया !

कुछ क्षण मौन !
फिर पवन ने कहा विनय के साथ :
"मुझे याद किया···सो
कारण ज्ञात करना चाहता हूँ
···जिससे कि
प्रासंगिक कर्त्तव्य पूर्ण कर सकूँ
अपने को पुण्य से पूर सकूँ,
और
पावन-पूत कर सकूँ, बस
और कोई प्रयोजना नहीं···
हाँ !
पर के लिए भी कुछ करूँ
सहयोगी - उपयोगी बनूँ
यह भावना एक बहाना है,
दूसरों को माध्यम बनाकर
मध्यम—यानी समता की ओर बढ़ना
बस, सुगमतम पथ है,
और
औरों के प्रति अपने अन्दर भरी
ग्लानि - घृणा के लिए विरेचन !"
पवन के इस आशय पर
उत्तर के रूप में, फूल ने
मुख से कुछ भी नहीं कहा,
मात्र गम्भीर मुद्रा से
धरती की ओर देखता रहा।
फिर,
दया-द्रवीभूत होकर
करुणा-छलकती दृष्टि फेरी
सुदूर बैठे शिल्पी की ओर···

जो औरों से क्या,
अपने शरीर की ओर भी निहारता नहीं ।

कुछ पल खिसक गये, कि
फूल का मुख तमतमाने लगा
क्रोध के कारण;
पाँखुरी-रूप अधर-पल्लव
फड़फड़ाने लगे, क्षोभ से;
रक्त-चन्दन आँखों से वह
ऊपर बादलों की ओर देखता है—
जो कृतघ्न
कलह-कर्म-मग्न बने हैं;
हैं विघ्न के साक्षात् अवतार,
संवेगमय जीवन के प्रति
उद्वेग-आवेग प्रदर्शित करते,
और
जिनका भविष्य भयंकर,
शुभ-भावों का भग्नावशेष मात्र !

भिन्न-भिन्न पात्रों को देखकर
भिन्न-भिन्न भाव-भंगिमाओं के साथ
फूल का यह जो
वमन-नमन परिणमन हुआ,
हुआ वर्तन - परिवर्तन,
उतना ही पर्याप्त था पवन के लिए ।
हाँ ! हाँ !!
अनुक्त भी ज्ञात होता है अवश्य
उद्यमशील व्यक्ति के लिए
फिर···तो···
संयमशील भक्ति के लिए
किसी भी बात की अव्यक्तता

आकुलित करेगी क्या ?
सब कुछ खुलेगा-खिलेगा
उसके सम्मुख···अविलम्ब !

यूं प्रासंगिक कार्य ज्ञात होते ही,
उसे सानन्द सम्पादित करने
पवन कटिबद्ध होता है तुरन्त।
कृतज्ञता ज्ञापन करता धरा के प्रति,
प्रलय-रूप धारण करता हुआ
रोष के साथ कहता हुआ -
"अरे पथभ्रष्ट बादलो !
बल का सदुपयोग किया करो,
छल का न उपभोग किया करो !
छल-बल से
हल नहीं निकलने वाला कुछ भी।
कुछ भी करो या न करो,
मात्र दल का अवसान ही हल है,
और वह भी
निकट - सन्निकट !"

☐

मति की गति-सी तीव्र गति से
पवन पहुंचता है नभ-मण्डल में,
पापोन्मुखों में प्रमुख बादलों को
अपनी चपेट में लेता है, घेर लेता है
और
उनके मुख को फेर देता है
जड़ तत्त्व के स्रोत, सागर की ओर···।

फिर, पूरी शक्ति लगाकर
उन्हें ढकेल देता है—

दोनों हाथ कुछ ऊपर उठा
एक पद धरती पर निश्चल जमाता।
एक पद पीछे की ओर खींच
एड़ी के बल से
गेंद को ठोकर देकर
बालक ज्यों देखता रह जाता,
पवन देखता रह गया।

अब क्या पूछो !
बादल दल के साथ असंख्य ओले
सिर के बल जाकर
सागर में गिरते हैं एक साथ,
पाप-कर्म के वशीभूत हो
भयंकर दुःखापन्न
नरकों में गोलाटें लेते
शठ-नायक नारक गिरते ज्यों।

□

इधर…
कई दिनों बाद, निराबाध
निरभ्र नील-नभ का दर्शन।
पवन का हर्षण हुआ
उत्साह उल्लास से भरा
सौर-मण्डल कह उठा, कि—
"धरती की प्रतिष्ठा बनी रहे, और
हम सब की
धरती में निष्ठा घनी रहे, बस।"

अणु-अणु कण-कण ये
वन-उपवन और पवन
भानु की आभा से धुल गये हैं।

कलियाँ खुल खिल पड़ीं
पवन की हँसियों में,
छवियाँ घुल-मिल गईं
गगन की गलियों में,
नयी उमंग, नये रंग
अंग-अंग में नयी तरंग
नयी ऊषा तो नयी ऊष्मा
नये उत्सव तो नयो भूषा
नये लोचन - समालोचन
नया सिंचन, नया चिन्तन
नयी शरण तो नयी वरण
नया भरण तो नयाऽऽभरण
नये चरण - सरचण
नये करण - संस्करण
नया राग, नयी पराग
नया जाग, नहीं भाग
नये हाव तो नयी तृपा
नये भाव तो नयी कृपा
नयी खुशी तो नयी हँसी
नयी-नयी यह गरीयसी ।

नया मंगल तो नया सूरज
नया जंगल तो नयी भू-रज
नयी मिति तो नयी मति
नयी चिति तो नयी यति
नयी दशा तो नयी दिशा
नहीं मृषा तो नयी यशा
नयी क्षुधा तो नयी तृषा
नयी सुधा तो निरामिषा

नया योग है, नया प्रयोग है
नये-नये ये नयोपयोग हैं
नयी कला ले हरी लसी है
नयी सम्पदा वरीयसी है
नयी पलक में नया पुलक है
नयी ललक में नयी झलक है
नये भवन में नये छुवन हैं
नये छुवन में नये स्फुरण हैं
□

यूँ, यह नूतन परिवर्तन हुआ
तथापि,
इसका प्रभाव कहाँ पड़ा—
मौन-आसीन शिल्पी के ऊपर,
मन्द-मन्द सुगन्ध पवन
बह-बह कर भी वह
अप्रभावक ही रहा।
शिल्पी के रोम-रोम वे
पुलकित कहाँ हुए ?
अपरस को परस वह
प्रभावित कब कर सकता···?

शिल्पी की नासा तक पहुँचकर भी
गुलाब की ताजी महक
उसकी नासा को जगा न सकी
भोगोपभोग की ये वस्तुयें
···जब
भोग-लीन भोक्ता को भी
तृप्त नहीं कर पाती हैं
फिर तो यहाँ—

योगी को आमन्त्रित करना है
मन्त्रित करना है बाहर आने को!

निजी-निजी नीड़ों को छोड़
बाहर आ वन-बहार निहारते
पंछी-दल की चहक भी
चाह के अभाव में शिल्पी के कर्णों को
तरंग-क्रम से जा छू नहीं सकी
और
शून्य में लीन हो गयी वह।
यानी,
श्रवणीय चहक के ग्राहक
नहीं बने शिल्पी के कर्ण वे।

ऐसी विशेष स्थिति में
दूरज होकर भी
स्वयं रजविहीन सूरज ही
सहस्रों करों को फैलाकर
सुकोमल किरणांगुलियों से
नीरज की बन्द पाँखुरियों-सी
शिल्पी की पलकों को सहलाता है।

इस सहलाव में शिल्पी को अनुभूत हुआ
माँ की ममता का मृदु-स्नैहिल परस।
विस्फारित आँखें हुईं
हुआ अपार क्षमता का सदन
आलोक धाम दिनकर का दरश।
दूर से दरश पाकर भी
लोचन हरस से बरसने लगे,
और इधर…
भक्ति के धवलिम कणों में
स्नपित - शान्त होने

धरती के कण ये तरसने लगे।
यूँ, पूरा का पूरा माहौल डूब गया,
परसन में, दरशन में,
हरसन और तरसन में !

▢

स्वस्थ अवस्था की ओर लौटते
कुम्भकार को देख कुम्भ ने कहा,
कि
परीषह-उपसर्ग के बिना कभी
स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी
त्रैकालिक सत्य है यह !

गुप्त-साधक की साधना-सी
अपक्व-कुम्भ की परिपक्व आस्था पर
आश्चर्य हुआ कुम्भकार को,
और वह कहता है—
"आशा नहीं थी मुझे कि
अत्यल्प काल में भी
इतनी सफलता मिलेगी तुम्हें।
कठिन साधना के सम्मुख
बड़े-बड़े साधक भी
हाँपते, घुटने टेकते हुए
मिले हैं यहाँ !

अब विश्वस्त हो चुका हूँ
पूर्णतः मैं, कि
पूरी सफलता आगे भी मिलेगी,
फिर भी, अभी तुम्हारी यात्रा

आदिम-घाटी को ही पार कर रही है,
घाटियों की परिपाटी प्रतीक्षित है अभी !

और सुनो !
आग की नदी को भी पार करना है तुम्हें,
वह भी बिना नौका !
हाँ ! हाँ !!
अपने ही बाहुओं से तैर कर,
तीर मिलता नहीं बिना तैरे।

इस पर कुम्भ कहता है :
"जल और ज्वलनशील अनल में
अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।
निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए
अन्यथा,
वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।"

कुम्भ की ये पंक्तियाँ
बहुत ही जानदार
असरदार सिद्ध हुईं।···

खण्ड : चार

अग्नि की परीक्षा
चाँदी-सी राख
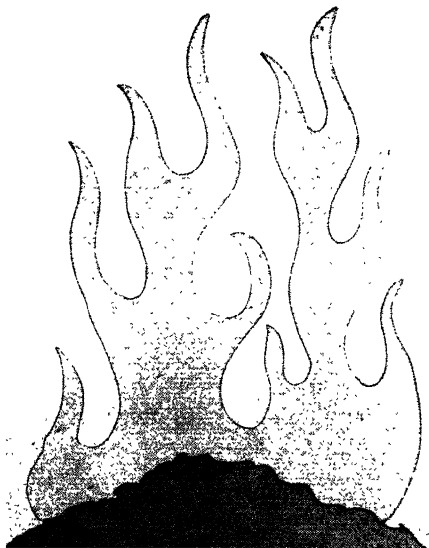
इधर धरती का दिल
दहल उठा, हिल उठा है,
अधर धरती के कँप उठे हैं
धृति नाम की वस्तु वह
दिखती नहीं कहीं भी।

चाहे रति की हो या यति की,
किसी की भी मति काम नहीं करती।
धरती की उपरिल उर्वरता
फलवती शक्ति बह जायेगी
पता नहीं कहाँ वह जायेगी · ?
प्रायः यही सुना है, कि
नभचरों से भूचरों को
उपहार कम मिला करता है
प्रहार मिला करता है प्रभूत !
असंयमी संयमी को क्या देगा ?
विरागी रागी से क्या लेगा ?
और
सुना ही नहीं, कई बार देखा गया है
कि
नियम-संयम के सम्मुख
असंयम ही नहीं, यम भी
अपने घुटने टेक देता है,
हार स्वीकारना होती है
नभश्चरों सुरासुरों को !

आज, अवलोकन हुआ अवा का
सरसरी दृष्टि से, अब।
अविलम्ब अवधारित अवधि में
अवा के अन्दर कुम्भ को पहुँचाना है,
और
अवा को साफ़-सुथरा बनाया जा रहा है।

अवा के निचले भाग में
बड़ी-बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी गाँठवाली
बबूल की लकड़ियाँ
एक के ऊपर एक सजाई जाती हैं,
और उन्हें
सहारा दिया जा रहा है
लाल-पीली छाल वाली
नीम की लकड़ियों का।
शीघ्र आग पकड़ने वाली
देवदारु-सी लकड़ियाँ भी
बीच-बीच में बिछाई गईं,
धीमी-धीमी जलने वाली
सचिक्कन इमली की लकड़ियाँ भी
अवा के किनारे
चारों ओर खड़ी की हैं
और
अवा के बीचों-बीच
कुम्भ-समूह व्यवस्थित है।

सब लकड़ियों की ओर से
अवरुद्ध-कण्ठ हो बबूल की लकड़ी
अपनी अन्तिम अन्तर्वेदना
कुम्भकार को दिखाती है,
और

उसकी शोकाकुल मुद्रा
कुछ कहने का साहस करती है, कि
"जन्म-से ही हमारी प्रकृति कड़ी है
हम लकड़ी जो रहीं
लगभग धरती को जा छू रही हैं
हमारी पाप की पालडी भारी हो पड़ी है।

हम से बहुत दूर·· पीछे
पुण्य की परिधि बिछुडी है
क्षेत्र की ही नहीं,
काल की भी दूरी हो गई है
पुण्य और इस
पतित जीवन के बीच में···

कभी-कभी हम बनाई जातीं
कडी से और कडी छड़ी
अपराधियों की पिटाई के लिए।
प्रायः अपराधी-जन बच जाते
निरपराध ही पिट जाते,
और उन्हें
पीटते-पीटते टूटती हम।
इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है
या
मनमाना 'तन्त्र' है !

इस अनर्थ का फल-रस
हमें भी मिलता है चखने को,
और
यह जो हमें निमित्त बनाकर
निरपराध कुम्भ को
जलाने की साध चली है

एक और हत्या की कड़ी—
जुड़ी जा रही, इस जीवन से।

अब कड़वी घूँट ली नहीं जाती
कण्ठ तक भर आई है पीड़ा
अब भीतर अवकाश ही नही है,
चाहे विष की घूँट हो
या पीयूष की।
कुछ समय तक
पीयूष का प्रभाव पड़ना भी नहीं है
इस जीवन पर!
जो विषाक्त माहौल में रहता हुआ
विष-सा बन गया है।

'आशातीत विलम्ब के कारण
अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।'
और यही हुआ
इस युग में इस के साथ।"

लड़खड़ाती लकड़ी की रसना
रुकती-रुकती फिर कहती है—
"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,
बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।"

इस पर क्षुब्ध हुए बिना
मृदु ममता-मय मुख से
मिश्री-मिश्रित मीठे
वचन कहता है शिल्पी, कि
"नीचे से निर्बल को ऊपर उठाते समय
उसके हाथ में पीड़ा हो सकती है,
उसमें उठानेवाले का दोष नहीं,

उठने की शक्ति नहीं होना ही दोष है
हाँ, हाँ !
उस पीड़ा में निमित्त पड़ता है उठानेवाला
बस, इस प्रसंग में भी यही बात है।
कुम्भ के जीवन को ऊपर उठाना है,
और
इस कार्य में
और किसी को नहीं,
तुम्हें ही निमित्त बनना है।"

यूँ शिल्पी के वचन सुनकर
संकोच-लज्जा के मिष
अन्तःस्वीकारता प्रकट करती-सी—
पुरुष के सम्मुख स्त्री-सी—
थोडी-सी ग्रीवा हिलाती हुई
लकडी कहती है कि—
"बात कुछ समझ में आई, कुछ नहीं,
फिर भी आपकी उदारता को देख,
बात टालने की हिम्मत
इसमें कहाँ ?…और
लकड़ी की ओर से स्वीकारता मिली
प्रासंगिक शुभ कार्य के लिए !

सो…
अवा के मुख पर दबा-दबा कर
रवादार राख और माटी
ऐसी बिछाई गई, कि
बाहरी हवा की आवाज तक
अवा के अन्दर जा नहीं सकती अब…!
अवा की उत्तर दिशा में

निचले भाग में एक छोटा-सा द्वार है
जिस द्वार पर जाकर कुम्भकार
नव बार नवकार-मन्त्र का
उच्चारण करता है
शाश्वत शुद्ध-तत्त्व को स्मरण में लाकर;
और
एक छोटी-सी जलती लकडी से
अग्नि लगा दी गई अवा में,
किन्तु
कुछ ही पलों मे अग्नि बुझ जाती है।
फिर से, तुरन्त
जलाई जाती
पुनः झट-सी बुझती वह !

यह जलन-बुझन की क्रिया
कई बार चली,···तब
लकड़ी से पुनः कहता है कुम्भकार
सौहार्द-पूर्ण भाषा में ·

"लगता है,
अभी इस शुभ-कार्य मे
सहयोग की स्वीकृति पूरी नही मिली,
अन्यथा
यह बाधा खड़ी नहीं होती !"
इस पर कहती है लकड़ो पुन
सौम्य स्वागत स्वरों में,कि
"नहीं · नहीं·· यह बाधा
मेरी ओर से नहीं है !
स्वीकार तो · स्वीकार
समर्पण तो···समर्पण
बाहर सो भीतर, भीतर सो बाहर

वपुषा - वचसा - मनसा
एक ही व्यवहार, एक ही बस—
बहती यहाँ उपयोग की धार !

और सुनो,
यहाँ बाधक-कारण और ही है,
वह है स्वयं अग्नि ।
मैं तो स्वयं जलना चाहती हूँ
परन्तु,
अग्नि मुझे जलाना नहीं चाहती है
इसका कारण वही जाने ।"

□

किन शब्दों में अग्नि से निवेदन करूँ,
क्या वह मुझे सुन सकेगी ?
क्या उस पर पड़ सकेगा
इस हृदय का प्रकाश-प्रभाव ?
क्या ज्वलन जल बन सकेगा,
इसकी प्यास बुझ सकेगी ?
कहीं वह मुझ पर कुपित हुई तो·· ?
यूँ सोचता हुआ शंकित शिल्पी
एक बार और जलाता है अग्नि ।

लो, जलती अग्नि कहने लगी :
"मैं इस बात को मानती हूँ कि
अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक
किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,
न ही भविष्य में मिलेगी ।
जब यह नियम है इस विषय में
फिर !

अग्नि की परीक्षा नही होगी क्या ?
मेरी परीक्षा कौन लेगा ?

अपनी कसौटी पर अपने को कसना
बहुत सरल है,···पर
सही-सही निर्णय लेना बहुत कठिन है,
क्यों कि,
अपनी आँखों की लाली
अपने को नही दिखती है ।
एक बात और भी है, कि
जिस का जीवन औरों के लिए
कसौटी बना है
वह स्वयं के लिए भी बने,
यह कोई नियम नही है ।
ऐसी स्थिति में प्रायः
मिथ्या-निर्णय लेकर ही
अपने आप को प्रमाण की कोटि में
स्वीकारना होता है सो
अग्नि के जीवन मे सम्भव नही है ।

सदाशय और सदाचार के साँचे में ढले
जीवन को ही अपनी
सही कसौटी समझती हूँ ।
फिर कुम्भ को जलाना तो दूर,
जलाने का भाव भी मन मे लाना
अभिशाप—पाप समझती हूँ, शिल्पी जी
···तब !"

उपरिलो वार्ता सुनता हुआ
भीतर से ही कुम्भ कहता है अग्नि से
विनय-अनुनय के साथ :
"शिष्टों पर अनुग्रह करना

सहज-प्राप्त शक्ति का
सदुपयोग करना है, धर्म है।
और,
दुष्टों का निग्रह नहीं करना
शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है,
मैं निर्दोष नहीं हूँ
दोषों का कोष बना हुआ हूँ
मुझ में वे दोष भरे हुए हैं।
जब तक उनका जलना नहीं होगा
मैं निर्दोष नहीं हो सकता।
तुम्हें जलाने की शक्ति मिली है
मैं कहाँ कह रहा हूँ
कि मुझे जलाओ ?
हाँ, मेरे दोषों को जलाओ !
मेरे दोषों को जलाना ही
मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना
परम-धर्म माना है सन्तों ने।
दोष अजीव हैं,
नैमित्तिक हैं,
बाहर से आगत हैं कथंचित्;
गुण जीवगत हैं,
गुण का स्वागत है।
तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,
इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से
मुझ में जल-धारण करने की शक्ति है
जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,
उसकी पूरी अभिव्यक्ति में
तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।"

□

कुम्भ का आशय विदित हुआ अग्नि को
लो, मुख मुदित हुआ कुम्भकार का !
शिल्पी के मुख पर, पूर्ण खुलकर
निराशा की रेखा आशा-विश्वास में
पूरी तरह बदल कर
आलसी नहीं, निरालसी लसी।

लो, देखते-ही-देखते
सुर-सुराती सुलगती गई अग्नि
समूचे अवा को अपनी चपेट में लेती
छोटी-बड़ी सारी लकड़ियों को
अपने पेट में समेट लेती !

आषाढ़ी बनी गरजती
भीतिदा मेघ घटाओं-सी
कज्जल- काली धूम की गोलियाँ
अविकल उगलने लगा अवा।
अवा के चारों ओर
लगभग तीस-चालीस गज क्षेत्र
प्रकाश से शून्य हो गया···सो
ऐसा प्रतीत होने लगा, कि
तमप्रभा महामही ही
कहीं विशुद्धतम तम को
ऊपर प्रेषित कर रही हो !
धूमिल-क्षोभिल क्षेत्र से
बाहर आ देखा शिल्पी ने,
अवा दिखा ही नहीं उसे
इतनी भयावह यहाँ की स्थिति है बाहरी
फिर, भीतरी क्या पूछो !

पूरा-का-पूरा अवा धूम से भर उठा
तीव्र गति से धूम घूम रहा है अवा मे

प्रलयकालीन चक्रवात-सम,
और कुछ नहीं,
मात्र धूम···धूम ··धूम···!
फलस्वरूप इधर
कुम्भकार का माथा घूम रहा
कुम्भ की बात मत पूछो !

कुम्भ के मुख में, उदर में
आँखों में, कानों में
और नाक के छेदों में,
धूम ही धूम घुट रहा है
आँखों से अश्रु नहीं, असु
यानी, प्राण निकलने को हैं;
परन्तु
बाहर से भीतर घुसने वाला धूम
प्राणों को बाहर निकलने नहीं देता,
नाक की नाड़ी नहीं-सी रही कुम्भ की
धूम्र की तेज गन्ध से ।
फिर भी !
पूरी शक्ति लगाकर नाक से
पूरक आयाम के माध्यम ले
उदर में धूम को पूर कर
कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम किया
जो ध्यान की सिद्धि में साधकतम है
नीरोग योग-तरु का मूल है ।

□

अन्न को नहीं,
अग्नि को पचाने की क्षमता
अपनी जठराग्नि में है या नहीं

इस बात को ज्ञात करने हेतु
कुम्भ ने धूम का भक्षण प्रारम्भ किया।
धूम-भक्षण के काल में
कुम्भ की रसना ने अरुचि का अनुभव नहीं किया
सो···
धूम का वमन नही हुआ।
वमन का कारण और कुछ नहीं,
आन्तरिक अरुचि मात्र।
इससे यही ज्ञात होता है कि
विषयों और कषायों का वमन नही होना ही
उनके प्रति मन में
अभिरुचि का होना है।

शनैः शनैः अब!
धूम का उठना बन्द हुआ
निर्धूम-अग्नि का आलोक
अवा के लोक में अवलोकित होने लगा।
तप्त-स्वर्ण की अरुणिम-आभा भी
अवा की आन्तरिक आभा-छवि से
प्रभावित हुई—
आज के दिन इस समय
शत-प्रतिशत
अग्नि की उष्णता उद्घाटित हुई है।

अनल के परस पा कर
कुम्भ की काया-कान्ति जल उठी
और
वह क्लान्ति में डूबती जा रही है
जब कि
उसकी आत्मा उज्ज्वल होती हुई
सहज-शान्ति में डूबने को लगभग···

कुम्भ की स्पर्शा ने कुम्भ से पूछा कि
यह कौन-सा परस है ?
कुम्भ ने कहा —विशुद्ध परस है
इसका अनुभव
बिना जले-तपे सम्भव नहीं है।
इसी सन्दर्भ में कुम्भ की रसना ने भी
इस बात की घोषणा कर दी, कि
'अग्नि में रस-गुण का अभाव है'
यह जिन धीमानों की धारणा है
अनुभव और अनुमान से बाधित है।
जब धूम का रसास्वादन हो सकता है
तब
अग्नि का स्वाद रसना को क्यों न आयेगा ?
हाँ ! हाँ !!
रस का स्वाद उसी रसना को आता है
जो जीने की इच्छा से ही नहीं,
मृत्यु की भीति से भी ऊपर उठी है।

रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति
कभी भी किसी भी वस्तु के
सही स्वाद से परिचित नहीं हो सकता,
भात में दूध मिलाने पर
निरा-निरा दूध और भात का नहीं,
मिश्रित स्वाद ही आता है,
फिर, मिश्री मिलाने पर तो —
तीनों का ही सही स्वाद लुट जाता है !

धूम्र-घुटन से मूर्च्छिता हुई
कुम्भ की पतली नासा वह,
घुटन के अभाव में अब
रसना की घोषणा का समर्थन करती-सी

अग्नि की शुद्ध-सुरभि को
सूंघने हेतु उतावली करती है।

कुम्भ के लोचन बन्द-से हुए थे
धूम के कारण अन्ध-से हुए थे
अब वह खुल गये हैं,
शुद्ध अग्नि की आभा-वन्दन से
तामसता के हटने-छंटने से
अरुण अरविन्द-बन्धु के उदय से
कमल-से खिल गये हैं।

कुम्भ की पहली दृष्टि पड़ी
निर्विकार-निर्धूम अग्नि पर।
दूसरी दृष्टि के लिए
दूसरा दृश्य ही नहीं मिला
द्रष्टा ने दृष्टि को सब ओर दौड़ा दिया
एक ही दृश्य मिला, चारों ओर फैला
अग्नि ··· अग्नि ··· अग्नि ···!

□

भाँति-भाँति की लकड़ियाँ सब
पूर्व की भाँति कहाँ रहीं अब !
सब ने आत्मसात् कर
अग्नि पी डाली बस !
या, इसे यूँ कहें—
अग्नि को जन्म देकर अग्नि में लीन हुईं वे।

प्रति वस्तु जिन भावों को जन्म देती है
उन्हीं भावों से मिटती भी वह,
वहीं समाहित होती है।
यह भावों का मिलन-मिटन

सहज स्वाश्रित है
और
अनादि - अनिधन···!

विकासोन्मुखी अपनी अनुभूति
चित्त की प्रसन्नता-प्रशस्तता बताने
उद्यमशील कुम्भ को देख,
अग्नि स्वयं अपनी अति के विषय में
कुछ-कुछ सकुचाती-सी कहती है, कि
"अभी मेरी गति में अति नहीं आई है।

और सुनो !
अति की इति को छूना बहुत दूर है
···अभी वह बहुत दूर है !

मेरा जलाना शीतल जल की
याद दिलाता है,
मेरा जलाना कटु-काजल का
स्वाद दिलाता है
यह नियम है कि,
प्रथम-चरण में ग़म-श्रम
निर्मम होता है,
मेरा जलाना जन-जन को जल
बाद पिलाता है
एतदर्थ क्षमा धरना···क्षमा करना
धर्म है साधक का
धर्म में रमा करना !"

इन पंक्तियों को सुन कर
कुम्भ के बल को साहस मिला,
उत्साह के पर्वों में आई चेतना,
और वह कह उठा कि—

"मन-वांछित फल मिलना ही
उद्यम की सीमा मानी है—
इस सूक्ति को स्मृति में रखता हूँ।
यही कारण है कि,
पथ में विश्राम करना
यह पथिक नहीं जानता।
प्रभु से निवेदन—फिर से
अपूर्व शक्ति की माँग!

भुक्ति की ही नहीं,
मुक्ति की भी
चाह नहीं है इस घट मे
वाह-वाह की परवाह नही है
प्रशंसा के क्षण में।
दाह के प्रवाह में अवगाह करूँ
परन्तु,
आह की तरग भी
कभी नहीं उठे
इस घट मे···सकट में।
इसके अंग-अग में
रग-रग में
विश्व का तामस आ भर जाय
कोई चिन्ता नहीं,
किन्तु, विलोम भाव से
यानी
ता···म···स स···म···ता···!

हे स्वामिन्, और सुनो···!
व्यक्तित्व की सत्ता से
पूरी तरह ऊब गया है यह,

और
कर्तव्य की सत्ता में
पूरी तरह डूब गया है,
अब
मौन मुस्कान पर्याप्त नहीं,
आप के मुदित मुख से
बस,
वचना चाहता है, प्रभो !

परिणाम-परिधि से
अभिराम-अवधि से
अब यह
बचना चाहता है, प्रभो !
रूप-सरस से
गन्ध परस से परे
अपनी रचना चाहता है, विभो !
संग-रहित हो
जंग-रहित हो
शुद्ध लोह अब
ध्यान-दाह में बस
पचना चाहता है, प्रभो !"

□

प्रभु की प्रार्थना, कुम्भ की तन्मयता
ध्यान-दाह की बात,
ज्ञान-राह की बात
सुन कर, अग्नि बोलती है बीच में :
"युगों-युगों की स्मृति है,
बहुतों से परिचित हूँ,
साधु-सन्तों की संगति की है !

ध्यान की बात करना
और
ध्यान से बात करना
इन दोनों में बहुत अन्तर है—
ध्यान के केन्द्र खोलने-मात्र से
ध्यान में केन्द्रित होना सम्भव नहीं।

लो, ध्यान के सन्दर्भ में
आधुनिक चित्रण :

इस युग के
दो मानव
अपने आप को
खोना चाहते हैं—
एक
भोग-राग को
मद्य-पान को
चुनता है;
और एक
योग-त्याग को
आत्म-ध्यान को
धुनता है।
कुछ ही क्षणों में
दोनों होते
विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना!
एक शव के समान
निरा पड़ा है,
और एक
शिव के समान
खरा उतरा है।

प्रखर चिन्तकों दार्शनिकों
तत्त्व-विदों से भी ऐसी
अनुभूति-परक पंक्तियाँ
प्राय: नहीं मिलतीं···जो
आज अग्नि से सुनने मिलीं।

यूँ सोचता हुआ कुम्भ
दर्शन की अबाधता
और
अध्यात्म की अगाधता पाने
अग्नि से निवेदन करता है पुन:
क्या दर्शन और अध्यात्म
एक जीवन के दो पद हैं ?
क्या इनमें पूज्य-पूजक भाव है ?
यदि है तो
पूजता कौन और पुजता कौन ?
क्या इनमें
कार्य-कारण भाव है ?
यदि है तो
कार्य कौन और कारण कौन ?
इनमें
बोलता कौन है और मौन कौन ?
ध्यान की सुगन्धि किससे फूटती है
उसे कौन सूँघता है
अपनी चातुरी नासा से ?
मुक्ति किससे मिलती है ?
तृप्ति किससे मिलती है ?

बस, इन दोनों की मीमांसा
सुनने मिले इस युग को !

इस पर अग्नि की देशना प्रारम्भ होती है :
सो···सुनो तुम :
दर्शन का स्रोत मस्तक है,
स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।
दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
चल सकता है, चलता ही है
पर, हाँ !
बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।
लहरों के बिना सरवर वह
रह सकता है, रहता ही है
पर हाँ !
बिना सरवर लहर नहीं।
अध्यात्म स्वाधीन नयन है
दर्शन पराधीन उपनयन
दर्शन में दर्श नहीं शुद्धतत्त्व का
दर्शन के आस-पास ही घूमती है
तथता और वितथता
यानी,
कभी सत्य-रूप कभी असत्य रूप
होता है दर्शन, जबकि
अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही
भास्वत होता है।

स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।
अनेक संकल्प-विकल्पों में
व्यस्त जीवन दर्शन का होता है।
बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही
दर्शन का पान करती है,
अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा
निरंजन का गान करती है।

दर्शन का आयुध शब्द है—विचार,
अध्यात्म निरायुध होता है
सर्वथा स्तब्ध - निर्विचार !
एक ज्ञान है, ज्ञेय भी
एक ध्यान है, ध्येय भी ।

तैरने वाला तैरता है सरवर में
भीतरी नहीं,
बाहरी दृश्य ही दिखते हैं उसे ।
वहीं पर दूसरा डुबकी लगाता है,
सरवर का भीतरी भाग
भासित होता है उसे,
बहिर्जगत् का सम्बन्ध टूट जाता है ।

अहा हा ! हा ! वाह ! वाह !
कितनी गहरी डूब है यह
दर्शन और अध्यात्म की मीमांसा !
और
कुम्भ से मिलता है साधुवाद, अग्नि को ।

फिर क्या हुआ, सो सुनो !
साधुवाद स्वीकारती-सी
अग्नि और धधक उठी ।
बाहर भले ही चलता हो
मीठी-मीठी शीतलता ले
ऊषा-कालीन वात वो,

पर,
उसका कोई प्रभाव नहीं अवा पर !
तापमान का अनुपात बढ़ता हो जा रहा है
दिन मे और रात में,
प्रताप में, प्रभात में
कुछ अन्तर ही नहीं रहा ।

रुक-रुक कर
रुख बदलता काल
इन दिनों कहाँ मिलता है ?
अवा में काल का विभाजन
रुक ही गया है
अक्षुण्ण-अखण्ड काल का प्रवाह है, बस !
□

इसी प्रसंग को लेकर
यकायक
अवा में कोई स्वैरविहारिणी
हाँ-में-हाँ मिलाती ध्वनि की धुन···
···अरे राही, सुन !
यह एक नदी का प्रवाह रहा है—
काल का प्रवाह, बस
बह रहा है ।
लो,
बहता-बहता
कह रहा है, कि
"जीव या अजीव का यह जीवन
पल-पल इसी प्रवाह में
बह रहा
बहता जा रहा है,
यहाँ पर कोई भी
स्थिर-ध्रुव-चिर
न रहा, न रहेगा, न था
बहाव बहना ही ध्रुव
रह रहा है,
सत्ता का यही, बस

रहस रहा, जो
विहँस रहा है।"

□

अरी, इधर यह क्या
आकस्मिक यातना की धरो…!
याचना की ध्वनि
किधर से आ रही है ?
किसकी है,
किस कारण से,
किस की गवेषणा को निकली है ?

नर की है, या नारी की,
बालक की है या बालिका की ?
किसी पुरुष की तो नहीं है निश्चित,
कारण कि अनुपात से
पर्याप्त पतली लग रही है कानों को।
आखिर इसका क्या आशय है ?
इसकी स्पष्टता - प्रकटता
अब विदित हुई, सो…

"ओ धरती माँ !
सन्तान के प्रति हृदय में दया धरती
क्या शिशु की आर्त-आवाज
कानों तक नहीं आ रही ?
मंजिल का मिलना तो दूर,
मार्ग में जल का भी कोई ठिकाना नहीं !
फल-फूल को कथा क्या कहूँ,
यहाँ तो
छाया की भी दरिद्रता पलती है

मृत्यु के मुख में मत ढकेलो मुझे !
आगामी आलोक की आशा देकर
आगत में अन्धकार मत फैलाओ !
अब यह उष्णता सही नहीं जाती,
सहिष्णुता की कमी क्रमशः
इस में आती जा रही है ।
इस जीवन को मत जलाओ
शीतल जल ला इसे पिलाओ !
इसे जिलाओ, माँ !"

जब धरती-माँ की ओर से
आश्वासन-आशीर्वचन भी नहीं मिले
तब कुम्भ ने कुम्भकार को
स्मरण में ला, कहा—
"क्या त्राण के सब-के-सब धाम
कहीं प्रयाण कर गये ?
कुम्भ के कारक और पालक होकर
आप भी भूल गये इसे ?
अब ये प्राण
जल-पान बिन
सम्मान नहीं कर पायेंगे किसी का ।
यानी,
इनका प्रयाण निश्चित है,
ये अग्नि-परीक्षा नहीं दे सकते अब,
कोई प्रतिज्ञा छोटी-सी भी
मेरु-सी लग रही है इन्हें,
आस्था अस्त-व्यस्त-सी हो गई,
भावी जीवन के प्रति उत्सुकता नहीं-सी रही ।
अफ़सोस, कि
अब सोच रहा हूँ—

अपनी प्यास बुझाये बिना
औरों को जल पिलाने का संकल्प
मात्र कल्पना है,
मात्र जल्पना है।"

लगभग रुदन की ओर मुड़ी
कुम्भ की याचना सुन
उस की गम्भीर स्थिति पर,
उस उर की पीर की अति पर,
सोच रहा
उदार-उन्नत उर व्यथित हुआ
कुम्भकार का भी।

और,
कुम्भ में धैर्य के प्राण फूंकने
उसको क्षुधा-तृषा के वारण हेतु
कुछ भोजन-पान ले कर
अवा की ओर उद्यत हुआ, कि तभी
कुम्भकार की गहरी निद्रा टूट गई,
और वह
स्वप्न की मुद्रा छूट गई !

□

वैसे,
जब चाहे मनचाहे
स्वप्न कहाँ दिखते हैं !
तभी…तो…प्रथम,
स्वप्निल दशा पर शिल्पी को हंसी आई,
फिर, उसकी आँखें
गम्भीर होती गई।

जिन आँखों में
अतीत का ओझल जीवन ही नहीं,
आगत-जीवन भी स्वप्निल-सा
धुंधला-धुंधला-सा तैरने लगा,
और
भावी, सम्भावित शकिल-सा
कुल मिला कर सब-कुछ
धूमिल-धूमिल-सा
बोझिल-सा झलकने लगा।

सन्ध्या-वन्दन से निवृत्त हो
कुम्भकार ने बाहर आ देखा—
प्रभात-कालीन सुनहरी धूप दिखी
धरती के गालों पर
ठहर न पा रही है जो;
ऊषा-काल से पूर्व प्रत्यूष से ही
उसका उर उतावला हो उठा है
आज अवा का अवलोकन
करना है उसे!

कुम्भ ने अग्नि-परीक्षा दी
और
अग्नि की अग्नि-परीक्षा ली गई,
शत-प्रतिशत फल की
आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है,
फिर भी मन को धीरज कहाँ
और कब?
विपरीत स्वप्न जो दिखा…!
अपनी ओर बढ़ते शिल्पी के चरण देख
कुम्भ की ओर से स्वयं अवा ने कहा:
"हे शिल्पी महोदय!

स्वप्न प्रायः निष्फल ही होते हैं
इन पर अधिक विश्वास हानिकारक है।
'स्व' यानी अपना
'प्' यानी पालन-संरक्षण
और
'न' यानी नहीं,
जो निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता
वह औरों को क्या सहयोग देगा ?
अतीत से जुड़ा
मीत से मुड़ा
बहु उलझनों में उलझा मन ही
स्वप्न माना जाता है।
जागृति के सूत्र छूटते है स्वप्न-दशा में
आत्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं तब
सिद्ध-मन्त्र भी मृतक बनता है।"
यूं, अवा की आवाज सुनता-सुनता
अब वो शिल्पी
अवा के और निकट आया
पर,
कहाँ सुनी जा रही है
कुम्भ की चीख ?…
कहाँ माँगी जा रही है
कुम्भ से भीख ?

न ही कुम्भ की यातना
न ही कुम्भ की याचना
मात्र… वह… वहाँ तब !
कहाँ हैं प्यास से पीड़ित-प्राण ?
वह शोक कहाँ
वह रुदन कहाँ

वह रोग कहाँ
वह वदन कहाँ
और वह
आग का सदन कहाँ
जो,
इन कानों ने, आँखों ने
और हाथों ने
सुने, देखे, छुए थे स्वप्न में ?
अक्षरशः स्वप्न असत्य निकला,
स्वप्न का घातक फल टला।

□

'कुम्भ की कुशलता सो अपनी कुशलता'
यूँ कहता हुआ कुम्भकार
सोल्लास स्वागत करता है अवा का,
और
रेतिल राख की राशि को,
जो अवा की छाती पर थी
हाथों में फावड़ा ले, हटाता है।
ज्यों-ज्यों राख हटती जाती,
त्यों-त्यों कुम्भकार का कुतूहल
बढ़ता जाता है, कि
कब दिखे वह कुशल कुम्भ ··

लो, अब दिखा !
राख का रंग कुम्भ का अंग
दोनों एक - दोनों संग
सही पहचान नहीं पाती आँखें ये
अनल से जल-जल कर
काली रात-सी कुम्भ की काया बनी है।

प्रकृष्ट कष्ट का अनुभव हुआ
उत्कृष्ट अनिष्ट का आना हुआ
काल के गाल में जाकर भी
बाल-बाल बचकर आया कुम्भ।
कुम्भ को काया को देखने से
दुःख-पीड़ा का, रव-रव का,
परीक्षा-फल को देखने से
सुख-क्रीड़ा का, गौरव का
और
धारावाहिक तत्त्व को देखने से
न विस्मय का, न स्मय का
कुम्भकार ने अनुभव किया।
परन्तु,
काल को तुला पर वस्तु को तौलने से
जो परिणाम निकलता है
वह भी पूर्णतः झलक आया
उसके मानस-तल पर !

पावन-व्यक्तित्व का भविष्य वह
पावन ही रहेगा।
परन्तु,
पावन का अतीत इतिहास वह
इति···हास ही रहेगा
अपावन···अपावन ··अपावन।

□

आज अवा से बाहर आया है
सकुशल कुम्भ।
कृष्ण की काया-सी
नीलिमा फूट रही है उससे,

ऐसा प्रतीत हो रहा है वह, कि
भीतरी दोष-समूह सब
जल-जल कर
बाहर आ गये हों,
जीवन में पाप को प्रश्रय नहीं अब,
पापी वह
प्यासे प्राणी को
पानी पिलाता भी कब ?

कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है मुक्तात्मा-सी
तैरते-तैरते पा लिया हो
अपार भव-सागर का पार !
जली हुई काया की ओर
कुम्भ का उपयोग कहाँ ?
संवेदन जो चल रहा है भीतर···!
भ्रमर वह
अप्रसन्न कब मिलता है ?
उसकी भी तो काया काली होती है,
सुधा-सेवन जो चल रहा है सदा !

काया में रहने मात्र से
काया की अनुभूति नहीं,
माया में रहने मात्र से
माया की प्रसूति नहीं,
उनके प्रति
लगाव-चाव भी अनिवार्य है ।

□

सावधान हो शिल्पी अवा से
एक-एक कर क्रमशः

कर पर ले, फिर
धरती पर रखता जा रहा कुम्भों को।
धरती की थी, है, रहेगी
माटी यह।
किन्तु
पहले धरती की गोद में थी
आज धरती की छाती पर है
कुम्भ के परिवेष में।
बहिरंग हो या अन्तरंग
कुम्भ के अंग-अंग से
संगीत की तरंग निकल रही है,
और
भूमण्डल और नभमण्डल ये
उस गीत में तैर रहे हैं।

लो, कुम्भ को अवा से बाहर निकले
दो-तीन दिन भी व्यतीत ना हुए
उसके मन में शुभ-भाव का उमड़न
बता रहा है सबको कि,
अब ना पतन, उत्पतन···
उत्तरोत्तर उन्नयन-उन्नयन
नूतन भविष्य-शस्य
भाग्य का उघड़न···!
बस,
अब दुर्लभ नहीं कुछ भी इसे
सब कुछ सम्मुख···समक्ष!

भक्त का भाव अपनी ओर
भगवान को भी खींच ले आता है,
वह भाव है—

पात्र-दान अतिथि-सत्कार।
परन्तु,
पात्र हो पूत-पवित्र
पद-यात्री हो, पाणिपात्री हो
पीयूष-पायी हंस-परमहंस हो,
अपने प्रति वज्र-सम कठोर
पर के प्रति नवनीत···
···मृदु और
पर की पीडा को अपनी पीडा का
प्रभु की ईडा में अपनी क्रीडा का
संवेदन करता हो।
पाप-प्रपच से मुक्त, पूरी तरह
पवन-सम नि:सग
परतन्त्र-भीरु,
दर्पण-सम दर्प से परीत
हरा-भरा फूला-फला
पादप-सम विनीत।
नदी-प्रवाह-सम लक्ष्य की ओर
अरुक, अथक···गतिमान।

मानापमान समान जिन्हें,
योग में निश्चल मेरु-सम,
उपयोग में निश्छल धेनु-सम,
लोकैषणा से परे हों
मात्र शुद्ध-तत्त्व की
गवेषणा में परे हों;
छिद्रान्वेषी नहीं
गुण-ग्राही हों,
प्रतिकूल शत्रुओं पर

कभी बरसते नहीं,
अनुकूल मित्रों पर
कभी हरसते नहीं,
और
ख्याति - कीर्ति - लाभ पर
कभी तरसते नहीं।

क्रूर नहीं, सिंह-सम निर्भीक
किसी से कुछ भी माँग नहीं भीख,
प्रभाकर-सम परोपकारी
प्रतिफल की ओर
कभी भूल कर भी ना निहारें,
निद्राजयी, इन्द्रिय-विजयी
जलाशय-सम सदाशयी
मिताहारी, हित-मित-भाषी
चिन्मय-मणि के हों अभिलाषी;
निज-दोषों के प्रक्षालन हेतु
आत्म-निन्दक हों
पर निन्दा करना तो दूर,
पर-निन्दा सुनने को भी
जिनके कान उत्सुक नहीं होते
मानो हों बहरे !
यशस्वी, मनस्वी और तपस्वी
होकर भी,
अपनी प्रशंसा के प्रसंग में
जिन की रसना गूँगी बनती है।

सागर - सरिता - सरवर - तट पर
जिनकी
शीत-कालीन रजनी कटती,
फिर

गिरि पर कटते ग्रीष्म-दिन
दिनकर की अदीन छाँव में ।

यूँ ! कुम्भ ने भावना भायी
सो, 'भावना भव-नाशिनी'
यह सन्तों की सूक्ति
चरितार्थ होनी ही थी, सो हुई ।

□

लो, इधर···वह
नगर के महासेठ ने सपना देखा, कि
स्वयं ने
अपने ही प्रांगण में
भिक्षार्थी महासन्त का स्वागत किया
हाथों में माटी का मंगल कुम्भ ले ।
निद्रा से उठा, ऊषा में,
अपने आप को धन्य माना
और
धन्यवाद दिया सपने को,
स्वप्न की बात परिवार को बता दी ।
कुम्भकार के पास कुम्भ लाने
प्रेषित किया गया एक सेवक,
स्वामी की बात सुना दी सेवक ने,
सुन, हर्षित हो शिल्पी ने कहा :

"दम साधक हुआ हमारा
श्रम सार्थक हुआ हमारा
और
हम सार्थक हुए ।"

कुम्भकार की प्रसन्नता पर
सेवक और प्रसन्न हुआ,

एक हाथ में कुम्भ लेकर,
एक हाथ में लिये कंकर से
कुम्भ को बजा-बजाकर
जब देखने लगा वह···
कुम्भ ने कहा विस्मय के स्वर में—
"क्या अग्नि-परीक्षा के बाद भी
कोई परीक्षा-परख शेष है, अभी ?
करो, करो परीक्षा !
पर को परख रहे हो
अपने को तो परखो···जरा !
परीक्षा लो अपनी अब !
बजा-बजा कर देख लो स्वयं को,
कौन-सा स्वर उभरता है वहाँ
सुनो उसे अपने कानों से !
काक का प्रलाप है, या
गधे का पंचम आलाप ?

परीक्षक बनने से पूर्व
परीक्षा में पास होना अनिवार्य है,
अन्यथा
उपहास का पात्र बनेगा वह।"

इस पर सेवक ने कहा शालीनता से —
"यह सच है कि
तुमने अग्नि-परीक्षा दी है,
परन्तु
अग्नि ने जो परीक्षा ली है तुम्हारी
वह कहाँ तक सही है,
यह निर्णय
तुम्हारी परीक्षा के बिना सम्भव नहीं।
यानी,

तुम्हें निमित्त बनाकर
अग्नि की अग्नि-परीक्षा ले रहा हूँ।

दूसरी बात यह है कि
मैं एक स्वामी का सेवक ही नहीं हूँ
वरन्
जीवन-सहायक कुछ वस्तुओं का
स्वामी हूँ, सेवन-कर्त्ता भी।

वस्तुओं के व्यवसाय,
लेन-देन मात्र से
उनकी सही-सही परख नहीं होती
अर्थोन्मुखी-दृष्टि होने से;
जब कि
ग्राहक की दृष्टि में
वस्तु का मूल्य वस्तु की उपयोगिता है।
वह उपयोगिता ही भोक्ता पुरुष को
कुछ क्षण सुख में रमण कराती है।"

सो, यह ग्राहक बनकर आया है
और
कुम्भ को हाथ में ले
सात बार बजाता है सेवक।
प्रथम बार कुम्भ से
'सा' स्वर उभर आया ऊपर
फिर, क्रमशः लगातार
रे · ग ··म···प·· ध·· नि
निकल कर नीराग नियति का
उद्‌घाटन किया
अविनश्वर स्वर-सम :
कुल मिलाकर भाव यह निकला—

सा''रे ग''म यानी
सभी प्रकार के दुःख
प''ध यानी ! पद—स्वभाव
और
नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव-धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का
विभाव-परिणमन मात्र है वह।
नैमित्तिक परिणाम कथंचित् पराये हैं।
इन सप्त-स्वरों का भाव समझना ही
सही संगीत में खोना है
सही संगी को पाना है।
ऐसी अद्भुत शक्ति कुम्भ में
कहाँ से आई, यूँ सोचते सेवक को
उत्तर मिलता है कुम्भ की ओर से
कि
"यह सब शिल्पी का शिल्प है,
अनल्प श्रम, दृढ संकल्प
सत्-साधना-संस्कार का फल।
और सुनो,
यह जो मेरा शरीर
घनश्याम-सा श्याम पड़ गया है
सो'''जला नहीं।
जिस भाँति
वाद्य-कला-कुशल शिल्पी
मृदंग-मुख पर स्याही लगाता है
उसी भाँति
शिल्पी ने मेरे अंग-अंग पर,
स्याही लगा दी है,
जो भाँति-भाँति के बोल

खोल देते हैं
प्रकृति और पुरुष के भेद,
हाथ की गदिया और मध्यमा का संघर्ष
स्पर्श पा कर
धा ··धिन्···धिन्···धा···
धा···धिन्···धिन्···धा···
वेतन-भिन्ना चेतन-भिन्ना,
ता···तिन ··तिन···ता···
ता···तिन···तिन·· ता...
का तन···चिन्ता, का तन···चिन्ता ?
घूँ· घूँ···यूँ !

ग्राहक के रूप में आया सेवक
चमत्कृत हुआ
मन-मन्त्रित हुआ उसका
तन तन्त्रित - स्तम्भित हुआ
कुम्भ की आकृति पर
और
शिल्पी के शिल्पन चमत्कार पर।
यदि मिलन हो
चेतन चित् चमत्कार का
फिर कहना ही क्या !
चित् की चिन्ता, चीत्कार
चन्द पलों में चौपट हो चली जाती
कहीं बाहर नहीं,
सरवर की लहर सरवर में ही समाती है।

□

कुम्भ का परीक्षण हुआ
निरीक्षण हुआ, फिर···

सेवक चुन लेता है कुम्भ
एक-दो लघु, एक-दो गुरु
और
शिल्पी के हाथ में
मूल्य के रूप में
समुचित धन देने का प्रयास हुआ
कि
कुम्भकार बोल पड़ा—

"आज दान का दिन है
आदान-प्रदान लेन-देन का नहीं,
समस्त दुर्दिनों का निवारक है यह
प्रशस्त दिनों का प्रवेश-द्वार !

सीप का नहीं, मोती का
दीप का नहीं, ज्योति का
सम्मान करना है अब !
चेतन भूलकर तन में फूले
धर्म को दूर कर, धन में झूले
सीमातीत काल व्यतीत हुआ
इसी मायाजाल में,
अत्र केवल अविनश्वर तत्त्व को
समीप करना है,
समाहित करना है अपने , बस !

वैसे,
स्वर्ण का मूल्य है
रजत का मूल्य है
कण हो या मन हो
प्रति पदार्थ का मूल्य होता ही है,
परन्तु,
धन का अपने आप में मूल्य

कुछ भी नहीं है।
मूल-भूत पदार्थ ही
मूल्यवान होता है।
धन कोई मूलभूत वस्तु है ही नहीं
धन का जीवन पराश्रित है
पर के लिए है, काल्पनिक !

हाँ ! हाँ !!
धन से अन्य वस्तुओं का
मूल्य आँका जा सकता है
वह भी आवश्यकतानुसार,
कभी अधिक कभी हीन
और कभी औपचारिक,
और यह सब
धनिकों पर आधारित है।

धनिक और निर्धन—
ये दोनों
वस्तु के सही-सही मूल्य को
स्वप्न में भी नहीं आँक सकते,
कारण,
धन-हीन दीन-हीन होता है प्रायः
और
धनिक वह
विषयान्ध, मदाधीन !!

उपहार के रूप में भी
राशि स्वीकृत नहीं हुई तब,
सेवक ने शिल्पी को सादर
धन के बदले में धन्यवाद दिया
और
चल दिया घर, कुम्भ ले सानन्द !

□

आसन से उतर कर
सोल्लास सेठ ने भी
हँसमुख सेवक के हाथ से
अपने हाथ में ले लिया कुम्भ,
और
ताज़े शीतल जल से
धोता है उसे स्वयं !

फिर, बायें हाथ में कुम्भ लेकर,
दायें हाथ की अनामिका से
चारों ओर कुम्भ पर
मलयाचल के चारु चन्दन से
स्वय का प्रतीक, स्वस्तिक अंकित करता है—
'स्व' की उपलब्धि हो सबको
इसी एक भावना से।
और
प्रति स्वस्तिक की चारो पाँखुरियों मे
कश्मीर-केसर मिश्रित चन्दन से
चार-चार बिन्दियाँ लगा दी
जो बता रही ससार को, कि
ससार की चारों गतियाँ सुख से शून्य है।
इसी भाँति,
प्रत्येक स्वस्तिक के मस्तक पर
चन्द्र-बिन्दु समेत, ओंकार लिखा गया
योग एवं उपयोग की स्थिरता हेतु।
योगियों का ध्यान
प्रायः इसी पर टिकता है।

हलदी की दो पतली रेखाओं से
कुम्भ का कण्ठ शोभित हुआ,
जिन रेखाओं के बीच

कुंकुम का पुट देखते ही बनता है !
हलदी कुंकुम केसर चन्दन ने
अपनी महक से
माहौल को मुग्ध-मुदित किया।

मृदुल-मजुल-समता-समूह
हरित हँसी ले—
भोजन-पान-पाचक
चार-पाँच पान खाने के
कुम्भ के मुख पर रखे गये।
खुले कमल की पांखुरी-सम
जिनके मुखाग्र बाहर दिख रहे है
और
उनके बीच में उन्हें सहलाने
एक श्रीफल रखा गया
जिस पर हलदी-कुंकुम छिड़के गये।

इस अवसर पर
श्रीफल ने कहा पत्रों से, कि
"हमारा तन कठोर है
तुम्हारा मृदु, और
यह काठिन्य तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा।

आज तक
इस तन को मृदुता ही रुचती आई,
परन्तु
तब संसार-पथ था
यह पथ उससे विपरीत है ना !
यहाँ पर आत्मा की जीत है ना !
इस पथ का सम्बन्ध
तन से नहीं है,
तन गौण, चेतन काम्य है

मृदु और काठिन्य में साम्य है, यहाँ।
और
यह हृदय हमारा
कितना कोमल है,
इतना कोमल है क्या
तुम्हारा यह उपरिल तन ?

बस
हमारे भीतर जरा झाँको,
मृदुता और काठिन्य की सही पहचान
तन को नहीं,
हृदय को छूकर होती है।"

श्रीफल की सारी जटायें हटा दी गईं
सर पर एक चोटी-भर तनी है
जिस में महकता खिला-खुला गुलाब
सजाया गया है।

प्राय: सब की चोटियाँ
अधोमुखी हुआ करती हैं,
परन्तु
श्रीफल की ऊर्ध्वमुखी है।
हो सकता है
इसीलिए श्रीफल के दान को
मुक्ति-फल-प्रद कहा हो।

'निर्विकार पुरुष का जाप करो'
यूँ कहती-सी
आर-पार प्रदर्शन-शीला
शुद्ध स्फटिकमणि की माला
कुम्भ के गले में डाली गई है।

अतिथि की प्रतीक्षा में निरत-सा
यूँ, सजाया हुआ

मांगलिक कुम्भ रखा गया
अष्ट पहलूदार चन्दन की चौकी पर।

प्रतिदिन की भाँति
प्रभु की पूजा को सेठ जाता है,
पुण्य के परिपाक से
धर्म के प्रसाद से, जो मिला
महाप्रासाद के पंचम-खण्ड पर
जहाँ चैत्यालय स्थापित है,
रजत-सिंहासन पर
रजविरहित प्रभु की रजतप्रतिमा
अपराजिता विराजित है।

सर्व-प्रथम परम श्रद्धा में
वन्दना हुई प्रभु की,
फिर अभिषेक किया गया उनका;
स्वयं निर्मल निर्मलता का कारण
गन्धोदक सर पर लगा लिया सेठ ने
सादर…सानन्द।

फिर, जल से हाथ धोकर
प्रतिमा का प्रक्षालन किया
विशुद्ध-शुभ्र वस्त्र से,
पाप-पाखण्डों से
परिग्रह-खण्डों से
मुक्त असपृक्त
त्यागी वीतरागी की पूजा की
अष्टमंगल द्रव्य ले
भाव-भक्ति से चाव-शक्ति से
सांसारिक किसी प्रलोभनवश नहीं,

प्रयोजन बस, बन्धन से मुक्ति !
भवसागर का कूल…किनारा।
□

अब तक प्रांगण में चौक पूरा गया
खेल खेलती बालिकाओं द्वारा।
लगभग समय निकट आ चुका है
अतिथि की चर्या का—
चर्चा इसी बात की चल रही है
दाताओं के बीच !

नगर के प्रति मार्ग की बात है
आमने-सामने अड़ोस-पड़ोस में
अपने-अपने प्रांगण में
सुदूर तक दाताओं की पंक्ति खड़ी है
पात्र की प्रतीक्षा में डूबी हुई।
प्रति प्रांगन में प्रति दाता
प्रायः
अपनी धर्मपत्नी के साथ खड़ा है।
सब की भावना एक ही है
प्रभु से प्रार्थना एक ही है,
कि
अतिथि का आहार निर्विघ्न हो
और वह
हमारे यहाँ हो बस !

लो, पूजन-कार्य से निवृत्त हो
नीचे आया सेठ प्रांगण में
और वह भी
माटी का मंगल-कुम्भ ले खड़ा हो गया।

कोई अपने करों में
रजत-कलश ले खड़े हैं,
कोई युगल करों को
कलश बना कर खड़े हैं,

कोई ताम्र-कलश ले
कोई आम्र-फल ले
कोई पीतल-कलश ले
कोई सीताफल ले
कोई रामफल ले
कोई जामफल ले
कोई कलश पर कलश ले
कोई सर पर कलश ले
कोई अकेला
कर में ले केला
कोई खाली हाथ ही
कोई थाली साथ ले।
विशेष बात यह है, कि
सब विनत-माथ हैं
और
बार···बार···सुदूर तक
दृष्टिपात करते
अतिथि की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

लो, इतने में ही आते हुए
अतिथि का दर्शन हुआ, और
दाताओं के मुख से निकल पड़ी
जयकार की ध्वनि !

जय हो ! जय हो ! जय हो !
अनियत विहारवालों की
नियमित विचारवालों की

सन्तों की, गुणवन्तों की
सौम्य-शान्त-छविवन्तों की
जय हो ! जय हो ! जय हो !

पक्षपात से दूरों की
यथाजात यतिशूरों की
दया-धर्म के मूलों की
साम्य-भाव के पूरों की
जय हो ! जय हो ! जय हो !

भव सागर के कूलों की
शिव-आगर के चूलों की
सब-कुछ सहते धीरों की
विधि-मल धोते नीरों की
जय हो ! जय हो ! जय हो !
□

अब तो···और
आसन्न आना हुआ अतिथि का !
प्रारम्भ के कई प्रांगण पार कर गये,
पथ पर पात्र के पावन पद
पल-पल आगे बढ़ते जा रहे,
पीछे रहे प्रांगण-प्राणों पर
पाला-सा पड़ गया
वह पुलक-फुल्लता नहीं उनमें !
भास्कर ढलान में ढलता है
इधर, कमल-वन म्लान पड़ता है,
फिर भी
पात्र पुनः लौट आ सकता है
यूँ, आशा भर जगी है उनमें ।

भानु अग्रिम दिन भी तो आ सकता है
·· आता ही है !

परन्तु
पथ पर चलते-चलते
अध-बीच मुड़कर नहीं आता
मुड़कर आना तो···दूर,
मुड़कर देखता तक नहीं वह,
पूर्व से पश्चिम की ओर यात्रा करता है।
पश्चिम से पूर्व की ओर आता हुआ
देखा नही गया आज तक,
और सम्भव भी नहीं।

दाताओं, विधि-द्रव्यों की पहचान
कब, कैसे कर लेता है पात्र,
पता तक नहीं चल पाता
बिजली की चमक की भाँति
अविलम्ब सब कुछ हो जाता है।

"पात्र का प्रांगण में आना,
फिर
बिना पाये भोजन-पान
लौट जाना···
घनी पीड़ा होती है दाता को इससे"
यूँ ये पंक्तियाँ
एक दाता के मुख से निकल पड़ी।
हाथोंहाथ
सन्तों की बात भी याद आई उसे, कि
परम-पुण्य के परमोदय से
पात्र-दान का लाभ होता है
हमारे पुण्य का उदय तो···है
परन्तु, अनुपात से

पर्याप्त पतला पड़ गया वह,
दुर्लभता इसी को तो कहते हैं।
कुछ दाताओं के मुख से
कुछ भी शब्द नहीं निकले
मन्त्र-मुग्ध कीलित-से रह गए।

कुछ ··तो
विधि-विस्मरण से विकल हो गये,
और
कपाल पर बार-बार हाथ लगाते हैं,
ऐसा प्रतीत हो रहा, कि
प्रतिकूल भाग्य को
डाँट-डाँट कर भगा रहे हों।

"हे महाराज !
विधि नहीं मिली, तो···नहीं सही
कम-से-कम इस ओर देख तो लेते,
इतने में ही सतोष कर लेते हम"
यूँ एक दाता ने मन की बात
सहज-भाव से सुना दी।

दाता के कई गुण होते हैं
उनमें एक गुण विवेक भी होता है
लो,
एक दाता ने विवेक ही खो दिया
और
भक्ति-भाव के अतिरेक में
पात्र के अति निकट
पथ पर आगे बढ़
दयनीय शब्दों में बोला, कि
"इस जीवन में इसे
पात्रदान का सौभाग्य मिला नहीं,

कई बार पात्र मिले
पर, भावना जगी नहीं
आज भावना बलवती बन पड़ी है,
इस अवसर पर भी यदि
दर्शन हो, पर स्पर्शन नहीं,
स्पर्शन हो, पर हर्षन नहीं,
भावना भूखी रहेगी···!
तो फिर कब···
भूख की शान्ति यह ?
आज का आहार हमारे यहाँ हो, बस !
इस प्रसंग में यदि दोष लगेगा
तो···मुझे लगेगा,
आपको नहीं स्वामिन् !
हे कृपा-सागर, कृपा करो
देर नहीं, अब दया करो।"

दाता की इस भावुकता पर
मन्द-मुस्कान-भरी मुद्रा को
मौनी मुनि मोड़ देता है
और
चार हाथ निहारता-निहारता
पथ पर आगे बढ़ जाता है।
तब तक दाता के मुख से पुनः
निराशा-घुली पंक्ति निकली :
"दाँत मिले तो चने नहीं,
चने मिले तो दाँत नहीं,
और दोनों मिले तो···
पचाने को आँत नहीं···!"

□

भाँति-भाँति की भ्रान्तियाँ
यूँ दाताओं से होती गईं,
"हाँ ! हाँ !
यही स्थिति हमारी भी हो सकती है"
यूँ कुम्भ ने कहा सेठ से—
और
सेठ को सचेत किया—

"पात्र से प्रार्थना हो
पर अतिरेक नहीं,
इस समय सब कुछ
भूल सकते हैं
पर विवेक नहीं।
तन, मन और वचन से
दासता की अभिव्यक्ति हो,
पर उदासता की नहीं।
अधरों पर मन्द मुस्कान हो,
पर परिहास नहीं।
उत्साह हो, उमंग हो
पर उतावली नहीं।
अंग-अंग से
विनय का मकरन्द झरे,
पर, दीनता की गन्ध नहीं।
और,
इसी सन्दर्भ में सुनी थी
सन्तों से एक कविता,
सो···सुनो, प्रस्तुत है,
आदृत है बुध-स्तुत है :

धरती को प्यास लगी है
नीर की आस जगी है

मुख-पात्र खोला है
कृत संकल्पिता है धरती
कि
दाता की प्रतीक्षा नहीं करना है
दाता की विशेष समीक्षा नहीं करना है
अपनी सीमा,
अपना आँगन
भूलकर भी नहीं लाँघना है
कारण,
पात्र की दीनता
निरभिमान दाता में
मान का आविर्माण कराती है
पाप की पालड़ी फिर
भारी पड़ती है वह,
और
स्वतन्त्र-स्वाभिमान पात्र में
परतन्त्रता आ ही जाती है,
कर्त्तव्य की धरती धीमी-धीमी
नीचे खिसकती है,
तब क्या होगा ?
दाता और पात्र
दोनों लटकते अधर में।···

तभी · तो···
काले-काले
मेघ सघन ये
अर्जित पाप को
पुण्य में ढालने
जो सत्-पात्र की गवेषणा में निरत हैं,
पात्र के दर्शन पाकर
भाव-विभोर गद्गद हो

गड़-गड़ाहट ध्वनि करते
सजल, लोचन-युगल ।
सावन की चौंसठ धार
पात्र के पाद-प्रान्त में
प्रणिपात करते हैं···

फिर···तो···
धरती ने
अनायास, सहज रूप से
बादल की कालिमा को
धो डाला,
अन्यथा
वर्षा के बाद
बादल-दल वह
विमल होता क्यों ?···"

□

कुम्भ के मुख से कविता सुनी
कम शब्दों में सार के रूप में,
दाता की गौरव-गाथा
आचार-संहिता ही सामने आई,
आदर्श में अपना मुख दिखा
विमुख हुआ जो आदर्श जीवन से,
जिस मुख पर
बेदाग होने का दम्भ-भर
दमक रहा था ।
सेठ की आँखें खुल गईं,
स्वयं को संयत किया उसने,
सब कुछ भ्रान्तियाँ धुल गईं ।

कविता-श्रवण ने उसे
बहुत प्रभावित किया।
पुनः संकेत मिलता है सेठ को —
अब शत-प्रतिशत निश्चित है
पात्र का अपनी ओर आना।
जैसे-जैसे
प्रागण पास आता गया
वैसे-वैसे
पात्र की गति मे मन्दता आई
और
पात्र को अनुभूत हुआ कि
उसके पदो को आगे बढ़ने से रोक कर
अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है
कोई विशेष पुण्य-परिपाक !

पात्र की गति को देख कर
और सचेत हो,
श्रद्धा-समवेत हो
अति मन्द भी नही
अति अमन्द भी नही,
मध्यम मधुर स्वरो मे
अभ्यागत का स्वागत प्रारम्भ हुआ :

'भो स्वामिन् !
नमोस्तु ! नमोस्तु ! नमोस्तु !
अत्र ! अत्र ! अत्र !
तिष्ठ ! तिष्ठ ! तिष्ठ !'
यूँ सम्बोधन-स्वागत के स्वर
दो-तीन बार दोहराये गये
साथ-ही-साथ,
धीमे-धीमे हिलने वाले

सेठ के कर्ण-कुण्डल भी
सादर अतिथि को बुला रहे हैं।

अभय का आयतन
अतिथि आ रुकता है प्रांगण में
निराकुल, अविचल···
फिर क्या कहना !
अहो भाग्य मानता हुआ
धन्य-धन्य कहता हुआ
अतिथि को दायीं ओर कर
अतिथि से दो-तीन हाथ दूर से
प्रदक्षिणा प्रारम्भ करता है सेठ
सपत्नीक, सपरिवार !

□

आज का यह दृश्य
ऐसा प्रतीत हो रहा है, कि

ग्रह-नक्षत्र-ताराओं समेत
रवि और शशि
मेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा दे रहे हैं,
तीन प्रदक्षिणा दी गईं,
जीव-दया-पालन के साथ।
पुनः नमस्कार के साथ,
नवधा भक्ति का सूत्रपात होता है :
'मन शुद्ध है
वचन शुद्ध है
तन शुद्ध है
और
अन्न-पान शुद्ध है
आइए स्वामिन् !

भोजनालय में प्रवेश कीजिए'
और
बिना पीठ दिखाये
आगे-आगे होता है पूरा परिवार।
भीतर प्रवेश के बाद
आसन-शुद्धि बताते हुए
उच्चासन पर बैठने की प्रार्थना हुई
पात्र का आसन पर बैठना हुआ।

पादाभिषेक हेतु पात्र से
किया जाता है विनम्र निवेदन,
निवेदन को स्वीकृति मिलती है;

पलाश की छवि को हरते
अविरति-भीरु अवतरित हुए
रजत के थाल पर
पात्र के युगल पाद-तल !
लो, उसी समय
गुरु-पद के प्रति
अनुराग व्यक्त करता थाल भी !
यानी,
गुरु-पद का अनुकरण करता
कुंकुम-कुन्दन-सा बनता लाल।
छान, तपाये समशीतोष्ण
प्रासुक जल से भरा
माटी का कुम्भ हाथों में ले
दाता, पात्र के पदों पर
ज्यों ही झुका
त्यों ही,
कंदर्प-दर्प से दूर
गुरु-पद-नख-दर्पण में

कुम्भ ने अपना दर्शन किया
और
धन्य ! धन्य ! कह उठा।

जय, जय, गुरुदेव की !
जय, जय, इस घड़ी की !
विचार साकार जो हुए
पथ-गत-पीड़न-वेदन
जो कुछ बचा-खुचा कालुष्य
सर्वस्व स्व-पन को
यही पर अर्पण किया :
'शरण, चरण हैं आपके,
तारण-तरण जहाज,
भव-दधि तट तक ले चलो
करुणाकर गुरुराज !'
यूँ गुरु-गुण-गान करते
विघ्न-विनाशक, विभव-विधायक
अभिषेक सम्पन्न हुआ, प्रक्षालन भी।
आनन्द से भरे सब ने
गन्धोदक मस्तक पर लगाया
परिवार सहित इन्द्र की भाँति,
सेठ लग रहा है अब।

इसी क्रम में अब,
यथाविधि, यथानिधि
यथाजात-सन्निधि
स्थापना-पूर्वक,
अष्ट-मंगल द्रव्य ले
जल-चन्दन-अक्षत-पुष्पों से
चरु-दीप-धूप-फलोंसे
पूजन-कार्य पूर्ण हुआ
पंचांग प्रणामपूर्वक !

पुनश्च,
बद्धांजलि हो पूरा परिवार
प्रार्थना करता है पात्र से कि
"भो स्वामिन् !
अंजुलि-मुद्रा छोड़कर
भोजन ग्रहण कीजिये !"

दान-विधि में दाता को कुशल पा
अंजुलि छोड, दोनों हाथ धो लेता है पात्र
और
जो मोह से मुक्त हो जीते हैं
राग-रोष से रीते हैं
जनम-मरण-जरा-जीर्णता
जिन्हें छू नहीं सकते अब
क्षुधा सताती नहीं जिन्हें
जिनके प्राण प्यास से पीड़ित नहीं होते,
जिनमें स्मय-विस्मय के लिए
पल-भर भी प्रश्रय नहीं,
जिन्हें देख कर
भय ही भयभीत हो भाग जाता है
सप्त-भयों से मुक्त, अभय-निधान वे,
निद्रा-तन्द्रा जिन्हें घेरती नहीं,
सदा-सर्वथा जाग्रत-मुद्रा
स्वेद से लथ-पथ हो
वह गात्र नहीं,
खेद-श्रम की
वह बात नहीं;

जिन में अनन्त बल प्रकट हुआ है,
परिणामस्वरूप
जिन के निकट कोई भी आतंक आ नहीं सकता
जिन्हें अनन्त सौख्य मिला है…सो

शोक से शून्य, सदा अशोक है
जिनका जीवन ही विरति है
तभी · तो···
उनसे दूर·· फिरती रहती रति वह;
जिनके पास संग है न संघ,
जो एकाकी हैं,
फिर चिन्ता किसकी उन्हें ?
सदा-सर्वथा निश्चिन्त हैं,
अष्टादश दोषों से दूर···
ऐसे आर्हतों की भक्ति में डूबता है,
कुछ पलों के लिए
नासाग्र-दृष्टि हो, महामना ।

□

श्रमण का कायोत्सर्ग पूर्ण हुआ कि
आसन पर खड़ा हुआ वह अतिथि
दोनों एड़ियों और पंजों के बीच,
क्रमशः चार और ग्यारह
अंगुल का अन्तर दे ।

स्थिति-भोजन-नियम का हो नहीं,
एक-भुक्ति का भी पालक है ।
पात्र ने अपने युगल करों को
पात्र बना लिया,
दाता के सम्मुख आगे बढ़ाया ।

'मन को मान-शिखर से
नीचे उतारने वाली
भिक्षा-वृत्ति यही तो है'
यूँ कहती हुई यह लेखनी
क्षुधा की मीमांसा करती है :

भूख दो प्रकार की होती है
एक तन की, एक मन की।
तन की तनिक है, प्राकृतिक भी,
मन की मन जाने
कितना प्रमाण है उसका !
वैकारिक जो रही,
वह भूख ही क्या, भूत है भयंकर,
जिसका सम्बन्ध भूतकाल से ही नहीं,
अभूत से भी है !
इसी कारण से—
अभी तक प्राणी यह
अभिभूत जो नहीं हुआ स्व को
उपलब्ध कर।

जहाँ तक इन्द्रियों की बात है
उन्हें भूख लगती नहीं,
बाहर से लगता है कि
उन्हें भूख लगती है।
रसना कब रस चाहती है,
नासा गन्ध को याद नहीं करती,
स्पर्श की प्रतीक्षा स्पर्शा कब करती ?
स्वर के अभाव में
ज्वर कब चढ़ता है श्रवणा को ?
बहरी श्रवणा भी जीती मिलती है।
आँखें कब आरती उतारती हैं
रूप की स्वरूप की ?
ये सारी इन्द्रियाँ जड़ हैं,
जड़ का उपादान जड़ ही होता है,
जड़ में कोई चाह नहीं होती
जड़ की कोई राह नहीं होती

सदा सर्वत्र सब समान
अन्धकार हो या ज्योति ।

हाँ ! हाँ !
विषयों का ग्रहण-बोध
इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है
विषयी-विषय-रसिकों को ।
वस्तु-स्थिति यह है कि
इन्द्रियाँ ये खिड़कियाँ हैं
तन यह भवन रहा है,
भवन में बैठा-बैठा पुरुष
भिन्न-भिन्न खिड़कियों से झाँकता है
वासना की आँखों से
और
विषयों को ग्रहण करता रहता है ।

दूसरी बात यह है, कि
मधुर, अम्ल, कषाय आदिक
जो भी रस हों शुभ या अशुभ—
कभी नहीं कहते, कि
हमें चख लो तुम ।

लघु-गुरु स्निग्ध-रूक्ष
शीत-उष्ण मृदु-कठोर
जो भी स्पर्श हो, शुभ या अशुभ—
कभी कहते नहीं कि
हमें छू लो, तुम ।

सुरभि या दुरभि
जो भी गन्ध हो, शुभ या अशुभ—
कभी कहते नहीं, कि
हमें सूँघ लो, तुम ।

कृष्ण-नील-पीत आदिक
जो भी वर्ण हों शुभ या अशुभ—
कभी कहते नहीं, कि
हमें लख लो तुम !
और
सा - रे - ग - म - प - ध - नि
जो भी स्वर हो शुभ या अशुभ
कभी कहते नहीं, कि
हमें सुन लो, तुम ।

परस-रस-गन्ध
रूप और शब्द
ये जड़ के धर्म हैं
जड के कर्म…।

इससे यही फलित हुआ, कि
मोह और असाता के उदय में
क्षुधा की वेदना होती है
यह क्षुधा-तृषा का सिद्धान्त है ।
मात्र इसका ज्ञात होना ही
साधुता नहीं है,
वरन्
ज्ञान के साथ साम्य भी अनिवार्य है
श्रमण का शृंगार ही
समता-साम्य है…

☐

इधर, प्रारम्भ हुआ दान का कार्य
पात्र के कर-पात्र में प्रासुक पानी से;
परन्तु
यह क्या ! यकायक
पात्र ने अपने पात्र को बन्द कर लिया
कि

तुरन्त, दूसरी ओर से
स्वर्ण-कलश आगे बढ़ाया गया
जिसमें स्वादिष्ट दुग्ध भरा है,
फिर भी अंजुलि अनखुली देख
तीसरे ने रजत-कलश दिखाया
जिसमें मधुर इक्षुरस भरा है,
जब
वह भी उपेक्षित ही रहा, तब
स्फटिक झारी की बारी आई
अनार के लाल रस से भरी
तरुणाई की अरुणाई-सी !

आश्चर्य !
अतिथि की ओर से उस पर भी
एक बार भी दृष्टि न पड़ी !
विवश हो निराशा में बदली वह झारी।

अब
अधिक विलम्ब अनुचित है
अन्तराय मानकर बैठ सकता है,
बिना भोजन अतिथि जा सकता है—
आशंका यह परिवार के मुख पर उभरी,
और
मन में प्रभु का स्मरण करते
किसी तरह, धृति धारते
पूरी तरह शक्ति समेट कर,
कँपते-कँपते करों से
माटी के कुम्भ को आगे बढ़ाया सेठ ने।

लो,
अतिथि की अंजुलि खुल पड़ती है
स्वाति के धवलिम जल-कणों को देख
सागर-उर पर तैरती शुक्तिका की भाँति !

चार-पाँच अंजुलि जल-पान हुआ,
कुछ इक्षु-रस का सेवन,
फिर जो कुछ मिलता गया
बस, अविकल चलता गया।
जब चाहे, मन चाहे नहीं
बिना याचना,
बिना कोई संकेत
बस, पेट हो भूखा
फिर कैसा भी हो भोजन
रस-दार या रूखा-सूखा
सब समान।

एक बर्तन से दूसरे बर्तन में
भोजन-पान का परिवर्तन होता है
क्या उस समय · कभी···
बर्तन में कोई परिवर्तन आता है?
न ही कोई बर्तन नर्तन करता है
न ही कोई बर्तन रुदन मचाता है
धन्य ! धन्य है यह नर
और यह नर-तन
सब तनों में 'वर'-तन !

□

बीजारोपण से पूर्व
जल के बहाव से कटी-पिटी
छेद-छिद्र-गर्त वाली धरती में
कूड़ा-कचरा कंकर-पत्थर डाल
उसे समतली बनाता है कृषक।
बस, इसी भाँति,
दाता दान देता जाता

पात्र उसे लेता जाता,
उदर-पूर्ति करना है ना !
इसी का नाम है गर्त-पूर्ण-वृत्ति
समता-धर्मी श्रमण की !

भूखी गाय के सम्मुख
जब घास-फूस चारा डाला जाता है
ऊपर मुख उठा कर
रक्षकों के आभरणों-आभूषणों को
अंगों-उपांगों को नहीं देखती वह ।
बस इसी भाँति,
भोजन के समय पर
साधु की भी वृत्ति होती है
जो गोचरी-वृत्ति कही जाती है ।

ऐसा-वैसा कुछ भी विकल्प नहीं
खारा हो, मीठा हो
कैसा भी हो, जल हो
झट बुझाते हैं घर में लगी आग को
बस, इसी भाँति ।

सरस हो या नीरस
कैसा भी हो, अशन हो
उदराग्नि शमन करना है ना !
और
यही अग्नि-शामक वृत्ति है श्रमण की
सब वृत्तियों में महावृत्ति !

पराग-प्यासा भ्रमर-दल वह
कोंपल-फूल-फलों-दलों का
सौरभ सरस पीता है
पर उन्हें,
पीड़ा कभी न पहुँचाता;

प्रत्युत,
अपनी स्फुरणशील कर-छुवन से
उन्हें नचाता है
गुन-गुन-गुंजन-गान सुनाता।
बस, इसी भाँति
पात्रों को दान देकर
दाता भी फूला न समाता,
होता आनन्द-विभोर वह।
अन्धकार घोर मिटता है,
जीवन में आती नयी भोर वह
और यही···तो
भ्रामरी-वृत्ति कही जाती सन्तों की !

यूँ तो श्रमण की कई वृत्तियाँ होती हैं—
जिनमें
अध्यात्म की छवि उभरती है
जो सुनीं थी सादर श्रुतों से
आज निकट— सन्निकट हो
खुली आँखों से देखने को मिलीं।

परिणाम यह हुआ कि
पूरा का पूरा परिवार सेठ का
अपार आनन्द से भर आया
और सेठ के
गौर-वर्ण के युगल-करों में
माटी का कुम्भ शोभा पा रहा है
कनकाभरण में जड़े हुए नीलम-सा।

उन करों और कुम्भ के बीच
परस्पर प्रशंसा के रूप में
कुछ बात चलती है, कि
कुम्भ ने कहा सर्वप्रथम—

"तुमने मुझे ऊपर उठा अपना लिया
बड़ा उपकार किया मुझ पर
और
इस शुभ-कार्य में
सहयोगी बनने का सौभाग्य मिला मुझे ।"

इस पर तुरन्त ही करों ने भी कहा कि
"नहीं···नहीं, सुनो···सुनो !
उपकार तो तुमने किया हम पर
तुम्हारे बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं था,
इस कार्य में भावना-भक्ति
जो कुछ है, तुम्हारी है
हम·· तो···ऊपर से
निमित्त-भर ठहरे !"

उपरिल चर्चा को सुनता हुआ
नीचे···
पात्र का कर-पात्र कहता है कि,
"पात्र के बिना कभी
पानी का जीवन टिक नहीं सकता,
और
पात्र के बिना कभी
प्राणी का जीवन टिक नहीं सकता,
परन्तु
पात्र से पानी पीने वाला
उत्तम पात्र हो नहीं सकता
पाणि-पात्र ही परमोत्तम माना है,
पात्र भी परिग्रह है ना !

दूसरी बात यह भी कि,
अतिथि के बिना कभी
तिथियों में पूज्यता आ नहीं सकती
अतिथि तिथियों का सम्पादक है ना !

फिर भी
तिथियों को अपने पास नहीं रखता वह,
तिथियाँ काल के आश्रित हैं ना !
परिणतियाँ अपनी-अपनी
निरी-निरी हुआ करती हैं,
तिथियों के बन्धन में बँधना भी
गतियों की गलियों में भटकना है।
कथंचित् !
यतियों के बन्धन में बँधना वह
नियति के रंजन मे रमना है।"
यूँ सत्-पात्र की होती रही मीमांसा।

□

इधर,
अबाधित आहार-दान चल रहा है
और ऐसा ही यह कार्य
सानन्द-सम्पन्न हो,
इसी भावना में
संलग्न-मग्न हुआ है सेठ।
उसके दोनों कन्धों से उतरती हुई
दोनों बाहुओं में लिपटती हुई,
फिर दायें वाली बायीं ओर
बायीं वाली दायीं ओर जा
कटि-भाग को कसती हुई
नीले उत्तरीय की दोनों छोर
नीचे लटक रही हैं।
ऊपर देख नही पा रही है,
कुम्भ की नीलिमा से वह
पूरी तरह हारी है

लज्जा का अनुभव करती
धरती में जा छुपना चाहती है
अपने सिकुड़न-शील मुख को
दिखाना चाहती नहीं किसी को।

सेठ के दायें हाथ की मध्यमा में
मुदित-मुखी स्वर्णिम मुद्रा है
जो माणिक-मणि से मण्डित है
जिस की रक्तिम आभा
अतिथि के अरुणिम अधरों से
बार-बार अपनी तुलना करती
और
अन्त में हार कर आकुलित हो
लज्जा के भार से
अतिथि के पद-तलों को छू रही है,
और ऐसा करना उचित ही है
पूज्यपादों की पूजा से ही
मनवांछित फल मिलता है।

इसी भाँति
सेठ के बायें हाथ की तर्जनी में
रजत-निर्मित मुद्रा है
मुद्रा में मुक्ता जड़ी है।
करपात्री की अदृष्टपूर्व
कर-नख-कान्ति लख कर
क्लान्ति का अनुभव करती है
और
ज्वराक्रान्त होती।
यही कारण है, उसकी
रक्त-रहित शुभ्र-काया बनी है;

पात्र के दोनों कपोल वह
गोलगोल हैं, सुडौल भी

मांसल हैं, प्रांजल भी
जिनकी प्रांजलता में
दाता के स्वर्णिम कुण्डल
अपनी प्रतिछवि के बहाने
अपनी तुलना करते हैं कपोलों से—

हम क्या कम हैं ?
बाल-भानु की भाँति
हम से आभा फूटती है
गोल भी हैं, सुडौल भी
सुवर्णवाले हैं, सुन्दर हैं
स्वर्णवाले हैं लोहित नहीं।
फिर भी,
कपोल-कान्ति मे, इस कान्ति मे
अन्तर क्यों ?
कौन-सी न्यूनता है हममें ?
कौन जानते इस भेद को
किससे पूछें ?
पूछें भी कैसे ?

लो ! उलझन मे उलझे कुण्डलों को
कपोलों का उद्बोधन :
"तुम्हें देखते ही दर्शकों मे
राग जाग्रत होता है
और
हमें देखते ही सहज
वत्सल-भाव उमड़ता है,
रागी भी खो जाता है
विरागता में कुछ पल,
हमारे भीतर संग्रहीत
वत्सल-भाव वह, ऊपर आ

कपोल-तल से फिसलता हुआ,
विरोध के रूप में आ खड़े
वैरियों के पाषाण-वक्षस्थल को भी
मृदुल फूल बनाता है।
हम में अनमोल बोल पले हैं,
और
तुम में केवल पोल मिले हैं।

एक बात और है कि
विकसित या विकास-शील
जीवन भी क्यों न हो,
कितने भी उज्ज्वल-गुण क्यों न हों,
पर से स्व की तुलना करना
पराभव का कारण है
दीनता का प्रतीक भी।

और
वह तुलना की क्रिया ही
प्रकारान्तर से स्पर्धा है;
स्पर्धा प्रकाश में लाती है
कहीं···सुदूर···जा···भीतर बैठी
अहंकार की सूक्ष्म सत्ता को।
फिर, अहंकार को सन्तोष कहाँ ?
बिना सन्तोष, जीवन सदोष है
यही कारण है, कि
प्रशंसा—यश की तृष्णा से झुलसा
यह सदोष जीवन
सहज जय-घोषों की, सुखद गुणों की
सघन-शीतल छांव से वंचित रहता है।

वैसे, स्वयं यह
'स्व' शब्द ही कह रहा है कि

स्व यानी सम्पदा है,
स्व ही विधि का विधान है
स्व ही निधि-निधान है
स्व की उपलब्धि ही सर्वोपलब्धि है
फिर,
अतुल की तुलना क्यों ?
यूँ कपोलों से अपनी पोल खुली देख,
कुन्दन के कुण्डल वे
और कुन्दित कान्तिहीन हुए।

□

सेठ ने एड़ी से चोटी तक
कमल-कर्णिका की आभा-सम
पीताम्बर का पहनाव पहना है
जिस पहनाव में
उसका मुख गुलाब-सम खिला है
और
मन्द-मन्द बहते पवन के प्रभाव से
पीताम्बर लहरदार हो रहा है,
जिन लहरों में
कुम्भ की नीलम-छवि तैरती-सी
सो·· पीताम्बर की पीलिमा
अच्छी-लगती नीलिमा को
पीने हेतु उतावली करती है।

□

हाँ, इधर···
घर के सब बाल-बालाओं को

भीतर रहने की आज्ञा मिली है
और
बिना बोले बैठने को बाध्य किया गया है,
फिर भी, बीच-बीच में,
चौखट के भीतर से या खिड़कियों से
एक-दूसरे को आगे-पीछे करते
बाहर झाँकने का प्रयास चल रहा है।

सीमा में रहना असंयमी का काम नहीं,
जितना मना किया जाता
उतना मनमाना होता है
पाल्य दिशा में।
त्याज्य का तजना
भाज्य का भजना, सम्भव नहीं
बाल्य-दशा में।
तथापि जो कुछ पलता है
बस, बलात् ही भीति के कारण !

यही स्थिति है इधर भी !
सर को कस कर बाँध रखा है सेठ ने
बालों के बबाल से बचने हेतु।
तथापि,
विशाल ललाट-तल पर
कुटिल-कृष्ण बाल की लट
बार-बार आ निहार रही है
अन्न-दान के सुखद दृश्य को
अन्य ध्यान के विमुख दृश्य को,
और
निर्भीक होकर कहती है
सब पात्रों में प्रमुख पात्र को, कि

"आप सन्त हैं समता के धनी
ये दाता सज्जन हैं ममता की खनी

विराग के प्रति अनुराग रखते;
दोनों का ध्येय बन्धन से मुक्ति है
फिर भला बताओ,
मुझे क्यों बन्धन में डालते ?
अब
मुझे भी बन्धन रुचता नहीं
मानती हूँ इस बात को कि
विगत मेरा गलत है,
और
किसका नहीं ?
पतित है पलित-पंकिल भी
गलित है चलित-चंचल भी,
परन्तु
आज की स्थिति बदली है
गलत-खत से बचना चाहती हूँ।

पाप पुण्य से मिलने आया है
विष पीयूष में घुलने आया है
हे प्रकाश-पुंज प्रभाकर,
अन्धकार की प्रार्थना सुनो!
बार-बार भगाने की अपेक्षा
एक बार इसे जगा दो, स्वामिन् !
अपने में जगह दो इसे
मिटाओ या मिलाओ अपने में;
प्रकाश का सही लक्षण वही है
जो सब को प्रकाशित करे!
एक और बात कहूँ धृष्टता की!
भाग्यशाली भाग्यहीन को
कभी भगाते नहीं, प्रभो!
भाग्यवान् भगवान् बनाते हैं।"

यूँ कहती हुई ललाट-गत लट
झट से पलट कर मूक होती है।
और···इधर
सानन्द-सम्पन्न हुआ आहार-दान
पात्र का आसन पर बैठना हुआ
प्रासुक-उष्ण जल से मुख-शुद्धि हुई
अंजलि से उछले अन्न-पान कणों से
प्रभावित
उदर-उर-उरु आदि अंगों को
अपने हाथों से शुद्ध बनाकर
कुछ पलों के लिए पलकों को
अर्द्धोन्मीलित कर
पात्र परम-तत्त्व मे लीन हुआ।

□

कायोत्सर्ग का विसर्जन हुआ,
सेठ ने अपने विनीत करों से
अतिथि के अभय-चिह्न चिह्नित
उभय कर-कमलों में
संयमोपकरण दिया मयूर-पंखों का
जो
मृदुल कोमल लघु मंजुल है।

तृषा बुझाने हेतु नहीं,
शास्त्र-स्वाध्याय के पूर्व,
और
शौचादि क्रियाओं के बाद
हस्त-पादादि-शुद्धि हेतु,
शौचोपकरण कमण्डलु में
प्रासुक जल भर दिया गया,

जल·· जो कि
अष्ट प्रहर तक ही
उपयोग में लाया जा सकता है,
अनन्तर जो सदोष हो जाता है।

अतिथि के चरण-स्पर्श
पावन-दर्शन हेतु
अड़ोस-पड़ोस की जनता
आँगन में आ खड़ी है।
ज्यों ही
अतिथि का आँगन में आना हुआ
त्यों ही
जय-घोष से गूँज उठा नभमण्डल भी।
और, भावुक जनता समेत
सेठ ने प्रार्थना की पात्र से, कि
"पुरुषार्थ के साथ-साथ
हम आशावादी भी हैं
आशु आशीर्वाद मिले
शीघ्र टले विषयों की आशा, बस !
चलें हम आपके पथ पर।
जाते-जाते हे स्वामिन् !
एक ऐसा सूत्र दो हमें
जिस में बँधे हम
अपने अस्तित्व को पहचान सकें,
कहीं भी गिरी हो
ससूत्र सुई···सो··
कभी खोती नहीं।"

इस पर अतिथि सोचता है कि
उपदेश के योग्य यह
न ही स्थान है, न समय

तथापि
भीतरी करुणा उमड़ पड़ी
सीप से मोती की भाँति
पात्र के मुख से कुछ शब्द निकलते हैं :

"बाहर यह
जो कुछ भी दिख रहा है
सो···मैं···नहीं···हूँ
और वह
मेरा भी नहीं है।
ये आँखें
मुझे देख नहीं सकतीं
मुझ में
देखने की शक्ति है
उसी का मैं स्रष्टा
था·· हूँ···रहूँगा,
सभी का द्रष्टा
था···हूँ   रहूँगा।
बाहर यह
जो कुछ भी दिख रहा है
सो   मैं···नहीं···हूँ !"

यूँ कहते-कहते पात्र के
पद चल पड़े उपवन की ओर
पीठ हो गई दर्शकों की ओर···।

पात्र के पीछे-पीछे
छाया की भाँति
कर में कमण्डलु ले
सेठ चल रहा है।

नगर के निकट उपवन है
उपवन में नसियाजी है
जिसका शिखर गगन चूमता है,
शिखर का कलश चमक रहा है,
अपनी स्वर्णिम कान्ति से
कलश बता रहा है कि
संसार की जितनी भी चमक-दमक है
वह सब भ्रमित है, भ्रामक भी
सत्पथ की गमक नहीं है।

नसियाजी में जिनबिम्ब है
नयन मनोहर, नेमिनाथ का
बिम्ब का दर्शन हुआ
निज का भान हुआ
तन रोमांचित हुआ
हर्ष का गान हुआ।

एक बार और गुरु-चरणों में
सेठ ने प्रणिपात किया
लौटने का उपक्रम हुआ, पर
तन टूटने लगा।

लोचन सजल हो गये
पथ ओझल-सा हो गया
पद बोझिल से हो गये
रोका, पर
रुक न सका रुदन,
फूट-फूट कर रोने लगा
पुण्य-प्रद पूज्य-पदों में
लोटपोट होने लगा।

गुरु-चरणों की शरण तज
यह आत्मा

लौटना नहीं चाहती, स्वामिन् !
मानस छोड़ कर हंस की भाँति।
तथापि खेद है, कि
तन को भी मन के साथ होना पड़ता है
मन का वेग अधिक है प्रभो !
बातों-बातो में बार-बार
उद्वेग-आवेग से घिर आता है
फिर, संवेग के वे पद
आचरण की धरती पर टिक नहीं पाते
फिर, निराधार वह क्या करेगा ? ···

पहाड़ी नदी हो
आषाढ़ी बाढ़ आई हो
छोटे-छोटे वनचरों की क्या बात,
हाथी तक का पता न चलता
···बह जाता सब कुछ !
अपना ही किया हुआ कर्म
आज बाधक बन उदय में आया है,
चाहते हुए भी धर्म का पालन
पहाड़-सा लग रहा है,
और मैं···?
बौना ही नहीं, पंगु भी बना हूँ।
बहुत लम्बा पथ है
कैसे चलूँ मैं···?
गगन चूमता चूल है,
कैसे चढ़ूँ मैं
कुशल-सहचर भी तो नहीं···
कैसे बढ़ूँ मैं···अब···आगे !

क्या पूरा का पूरा आशावादी बनूँ ?
या सब कुछ नियति पर छोड़ दूँ ?

छोड़ दूँ पुरुषार्थ को ?
हे परम-पुरुष ! बताओ क्या करूँ ?
काल की कसौटी पर
अपने को कसूँ ?
गति-प्रगति-आगति
नति-उन्नति-परिणति
इन सबका नियन्ता
काल को मानूँ क्या ?

प्रति पदार्थ स्वतन्त्र है।
कर्ता स्वतन्त्र होता है—
यह सिद्धान्त सदोष है क्या ?
'होने' रूप क्रिया के साथ-साथ
'करने' रूप क्रिया भी तो···
कोष में है ना !"

सेठ की प्रश्नावली सुन
वात्सल्य-पूर्ण भाषा में
माँ पुत्र को समझाती-सी,
मौन तजकर कहा गुरु ने, कि
"इन सब शंकाओं का समाधान यहाँ है
मेरी ओर इधर···ऊपर···देखो !"
और
ऊपर की ओर देखना हुआ
गीली आँखों से—
मौन-मुद्रा मिली मात्र,
मुद्रा में मुस्कान की मात्रा
थोड़ी-सी भी मिली नहीं,
गम्भीरता से पूरी भरी है वह,
आँखों में निश्चलता है
ललाट पर निश्छलता है
वहो रहस्योद्घाटन करती-सी···

'नि' यानी निज में ही
'यति' यानी यतन - स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है
निश्चय से यही यति है,
और
'पुरुष' यानी आत्मा परमात्मा है
'अर्थ' यानी प्राप्तव्य प्रयोजन है
आत्मा को छोड़कर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही
सही पुरुषार्थ है।

नियति का और पुरुषार्थ का
स्वरूप ज्ञात हुआ सही-सही
तो···
काल की भाव-धर्मिता
जो मात्र उपस्थिति-रूपा
प्रेरणा-प्रदा नहीं,
उदासीना एक-क्षेत्रासीना है
छपी नहीं रही, खुल गई।

सेठ की शंकायें उत्तर पातीं
फिर भी···
जल के अभाव में लाघव
गर्जन-गौरव-शून्य
वर्षा के बाद मौन
कान्तिहीन-बादलों की भाँति
छोटा-सा उदासीन मुख ले
घर की ओर आ रहा सेठ···

तेल से बाती का सम्बन्ध
लगभग टूट जाने से
किंवा

अत्यल्प तेल रह जाने से
टिमटिमाते दीपक-सम
अपने घट में प्राणों को सँजोये
मन्थर गति से चल रहा है सेठ…

मन में मन्थन भी चल रहा
मूल-धन से हाथ धो कर
खाली हाथ घर लौटते
भविष्य के विषय में चिन्तित
किंकर्तव्यविमूढ़ वणिक-सम
घर की ओर जा रहा सेठ ·

पूरा का पूरा घृतांश
निकल जाने से
स्वयं की नीरसता का अनुभव करता,
केवल दूध के समान
संवेदन शून्य हुआ
घर की ओर जा रहा सेठ…

सहपाठियों के समक्ष
पराभव-जनित पीड़ा से भी
कई गुनी अधिक
पीड़ा का अनुभव हो रहा है
इस समय सेठ को।
डाल के गाल का रस-चूसन
पूर्णरूप से छूटने से
धूल में गिरे फूल सम
आत्मीयता का अलगाव साथ ले
शेष रहे अत्यल्प साहस समेत
घर की ओर जा रहा सेठ…

माँ के विरह से पीड़ित
रह-रह कर

सिसकते शिशु की तरह
दीर्घ-श्वास लेता हुआ
घर की ओर जा रहा सेठ···

वसन्त का अन्त होने से
विकलित
वन-जीवन-वदन-सम
सन्त-संगति से वंचित हुआ
घर की ओर जा रहा सेठ··

हरियाली को हरने वाली
मृग-मरीचिका से भरी
सुदूर तक फैली मरुभूमि में
सागर-मिलन की आस भर ले
बलहीन सपाट-तट वाली
सरकती पतली-सरिता-सा
घर की ओर जा रहा सेठ···

प्राची की गोद से उछला
फिर
अस्ताचल की ओर ढला
प्रकाश-पुंज प्रभाकर-सम
आगामी अन्धकार से भयभीत
घर की ओर जा रहा सेठ···

कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की-सी
दशा है सेठ की
शान्त-रस से विरहित कविता-सम
पंछी की चहक से वंचित प्रभात-सम
शीतल चन्द्रिका से रहित रात-सम
और
बिन्दी से विकल

अबला के भाल-सम
सब कुछ नीरव-निरीह लग रहा है ।
लो,
ढलान में ढुलकते-ढुलकते
पाषाण-खण्ड की भाँति
घर आ पहुँचता है सेठ…!

□

पूरा परिवार अपार हर्ष में डूबा है
पात्र-दान का परिणाम है यह;
पुण्य-शाली कुम्भ भी फूल रहा है ।
सब एक साथ भोजनार्थ बैठते हैं
परन्तु,
गौरवर्ण से भरे, पर उदासी से घिरे—
सेठ के मुख को
गौरवशाली कुम्भ ने
गौर से देखकर यूँ कहा, कि

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है
संसार का अन्त दिखने लगता है,
समागम करनेवाला भले ही
तुरन्त सन्त-संयत
बने या न बने
इसमें कोई नियम नहीं है,
किन्तु वह
सन्तोषी अवश्य बनता है ।
सही दिशा का प्रसाद ही
सही दशा का प्रासाद है

चतुर-चिकित्सकों से
रोग का सही निदान होने पर

औषध-सेवन करने वाला रोगी
जिसकी उपास्य देवता नीरोगता है,
भोगी हो नहीं सकता वह,
भोग ही तो रोग है।
और सुनो !
यह औषध का नहीं,
सही निदान का चमत्कार है,
औषध-सेवन का फल तो
रोग का शोधन है—नीरोगता
अनमोल धन है।"

और क्या कहा कुम्भ ने
सो···सुनो !
"वैसे
आभरण-आभूषणों की बात दूर रहे,
वृद्धावस्था में ढाका-मलमल भी
भार लगती है
जब कि
बाल हो या युवा
प्रौढ़ हो या वृद्ध
वनवासी हो या भवनवासी
वैराग्य की दशा में
स्वागत-आभार भी
भार लगता है।"

सन्तों की ये पंक्तियाँ भी
अप्रासंगिक नहीं हैं :
गगन का प्यार कभी
धरा से हो नहीं सकता
मदन का प्यार कभी
जरा से हो नहीं सकता;

यह भी एक नियोग है कि
सृजन का प्यार कभी
सुरा से हो नहीं सकता ।
विधवा को अंग-राग
सुहाता नहीं कभी
सधवा को संग-त्याग
सुहाता नहीं कभी,
संसार से विपरीत रीत
विरलों की ही होती है
भगवाँ को रंग-दाग
सुहाता नही कभी !

□

कुम्भ को भाव-भाषा सुन कर
ऐसा प्रतीत हुआ सेठ को, उस क्षण कि
साधुता का साक्षात्
आस्वादन हो रहा है ।

खार को धार से अब
क्या अर्थ रहा ?
सार के आसार से अब
क्या प्रयोजन ?
सोये हुए सब-के-सब
सार के स्रोत जो
समक्ष फूट पड़े…
अहो भाग्य ! धन्य !!

कुम्भ के विमल-दर्पण में
सन्त का अवतार हुआ है
और

कुम्भ के निखिल अर्पण में
सन्त का आभार हुआ है ।

यह लेखनी भी देती है
सामयिक कुछ पंक्तियाँ
गम से यदि भीति हो
तो · सुनो !
श्रम से प्रीति करो
और
अहं से यदि प्रीति हो
तो···सुनो !
चरम से भीति धरो
शम-धरो
सम वरो !

सिद्ध मन्त्र की महिमा से
तन में व्याप्त विष-सम
सेठ की आकुल-व्याकुलता
मिट चली गई कहीं ।
और, सेठ ने कहा कि
"प्रभु-पूजन को छोड़कर
इस पक्ष में अतिथि के समान
माटी के पात्रों का उपयोग होगा"
और
रजत-आसन से उतर कर
काष्ठ के आसन पर आसीन हुआ ।
यह सुनकर परिवार ने भी कहा—
"हमारी भी यही भावना है ।"

परिवार की परिवर्तित परिणति देख
स्वर्ण की थालियाँ और
गोल-गोल कलशियाँ

कुन्दपुष्प-सम शुभ्र
लोटे - प्याले - कटोरे
राकेन्द्र-सम रजतिम
थालियाँ, कलशियाँ
स्फटिक की माणिक की झारियाँ
तरह-तरह की तश्तरियाँ
चम-चम चम-चम
चमकनेवाली चमचियाँ
यह सब क्या हो रहा है ?···
यूँ सोचते चमत्कृत हो गये सब !

फिर···इधर· यह क्या घटा !
शीतल जल से भरा पीतल-कलश
भीतर-ही-भीतर पीड़ित हुआ
पराभव का घूँट पीता-पीना
जलता हुआ उबलता
और पीलित हुआ।
सुवर्ण के द्वार पर
श्याम-वरण का स्वागत देख,
स्वर्ण-कलश का वर्ण वह
और तमतमाने लगा,
जिसका वर्णन वर्णों से सम्भव नहीं;
आपे से बाहर हुआ।
स्वर्ण-कलश की मुख-गुफा से
आक्रोश-भरी शब्दावली फूटती है
साक्षात् ज्वालामुखी का रूप धरती-सी :

"आज का दिन भी
पूर्ण नहीं हुआ अभी
और
आगत का इतना स्वागत-समादर !

माटी को माथे पर लगाना
और
मुकुट को पैरों में पटकना
यह सब
सभ्य व्यवहार-सा लगता नहीं
अपने प्रति अपनत्व का भाव तो दूर,
उपरिल उपचार से भी
अपनाने का भाव तक यहाँ दिखता नहीं,
यह अपने आप फलित हो रहा है।

इस बात को मानता हूँ, कि
अपनाना—
अपनत्व प्रदान करना
और
अपने से भी प्रथम समझना पर को
यह सभ्यता है, प्राणी-मात्र का धर्म;
परन्तु यह कार्य
यथाक्रम यथाविधि हो
इस आशय को और खोलूँ—
उच्च उच्च ही रहता
नीच नीच ही रहता
ऐसी मेरी धारणा नहीं है,
नीच को ऊपर उठाया जा सकता है,
उचितानुचित सम्पर्क से
सब में परिवर्तन सम्भव है।
परन्तु ! यह ध्यान रहे—
शारीरिक आर्थिक शैक्षणिक आदि
सहयोग-मात्र से
नीच बन नहीं सकता उच्च
इस कार्य का सम्पन्न होना
सात्त्विक संस्कार पर आधारित है।

मठे को यदि छौंक दिया जाता है
मठा स्वादिष्ट ही नहीं
अपितु पाचक भी बनता है,
और
दूध में मिश्री का मिश्रण हो तो
दूध स्वादिष्ट भी बनता, बलवर्धक भी।
इससे विपरीत, विधि-प्रयोग से
यानी
मठे में मिश्री का मिश्रण
कथंचित् गुणकारी तो है
परन्तु
दूध को छौंक देना तो…
बुद्धि की विकृति सिद्ध करता है।"
यूँ, धीरे-धीरे कलश का
उबाल-उफान शान्त हुआ।

□

शान्ति के साथ, सेठ ने
कलश के उबलन को
दोनों कानों से सुना,
फिर बदले में वह
कलश की कुशलता की कामना करता
शान्ति के कुछ बिन्दु प्रदान करता है।

"जहाँ तक माटी-रज की बात है,
मात्र रज को कोई
सर पर नहीं चढ़ाता
मूढ़-मूर्ख को छोड़ कर।
रज में पूज्यता आती है चरण-सम्पर्क से।
और

वह चरण पूज्य होते हैं
जिनकी पूजा आँखें करती हैं,
गन्तव्य तक पहुँचाने वाले
चरणों का मूल्य आँकती हैं
वे ही मानी जाती सही आँखें।
चरण की उपेक्षा करने वाली
स्वैरिणी आँखें दुःख पाती हैं
स्वयं चरण-शब्द ही
उपदेश और आदेश दे रहा है
हितैषिणी आँखों को, कि
चरण को छोड़कर
कहीं अन्यत्र कभी भी
चर न ! चर न !! चर न !!!
इतना ही नहीं,
विलोम रूप से भी
ऐसा ही भाव निकलता है,
यानी
च···र · ण न र · च ··
चरण को छोड़ कर
कहीं अन्यत्र कभी भी
न रच ! न रच ! न रच !···

हे भगवन् !
मैं समझना चाहता हूँ कि
आँखों की रचना यह
ऐसे कौन से परमाणुओं से हुई है—
जब आँखें आती हैं···तो
दुःख देती हैं,
जब आँखें जाती हैं ··तो
दुःख देती हैं !
कहाँ तक और कब तक कहूँ,

जब आँखें लगती हैं…तो
दुःख देती हैं !
आँखों में सुख है कहाँ ?
ये आँखें
दुःख की खनी हैं
सुख की हनी हैं
यही कारण है कि
इन आँखों पर विश्वास नहीं रखते
सन्त संयत-साधु-जन
और
सदा-सर्वथा चरणों लखते
विनीत-दृष्टि हो चलते हैं
…धन्य !

फिर भी,
खेद का बात यह है कि
आँखें ऊपर होती हैं
और
चरण नीचे !
ऊपर वालों की शरण लेना ही
समुचित है, श्रेयस्कर—
ऐसी धारणा अज्ञानवश बनाकर
पूज्य बनने की भावना लेकर
आँखों की शरण में
कुछ रजकण चले जाते हैं।
पूज्य बनना तो दूर रहा,
उनका स्वतन्त्र-विचरण करना भी
लुट जाता है…खेद !
आँखों के बन्धन से मुक्ति पाना
अब असम्भव होता है उन्हें

भीतर-ही-भीतर
आँखों से संघर्ष करते
अपने अस्तित्व को ही खो देते हैं
और
घृणास्पद दुर्गन्ध, बीभत्स
गीड़ का रूप धारण कर
विद्रूप बन बाहर आते हैं
वह रज-कण...।

यह सब प्रभाव
जो हम पर पड़ा
समता के धनी श्रमण का है"
अन्त में यूँ कह, सेठ
भोजन-प्रारम्भ करता, कि
पुनः कलश की ओर से
व्यंगात्मक भाषा का प्रयोग हुआ—
"अरे सुनो !
कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं
होश के श्रमण होते विरले ही,
और
उस समता से क्या प्रयोजन
जिसमें इतनी भी क्षमता नहीं है
जो समय पर,
भयभीत को अभय दे सके,
श्रय-रीत को आश्रय दे सके।
यह कैसी विडम्बना है ?
भयभीत हुए बिना
श्रमण का भेष धारण कर,
अभय का हाथ उठा कर,
शरणागत को आशीष देने की अपेक्षा,

अन्याय मार्ग का अनुसरण करने वाले
रावण जैसे शत्रुओं पर
रणांगण में कूदकर
राम जैसे
श्रम-शीलों का हाथ उठाना ही
कलियुग में सत्-युग ला सकता है,
धरती पर···यहीं पर
स्वर्ग को उतार सकता है।

श्रम करे सो श्रमण!
ऐसे कर्म-हीन कंगाल के
लाल-लाल गाल को
पागल से पागल शृगाल भी
खाने की बात तो दूर रही,
छूना भी नहीं चाहेगा।"

इस पर भी अभी
कलश का उबाल शान्त नहीं हुआ,
खदबद खदबद
खिचड़ी का पकना वह
अविकल चलता ही रहा
और
सन्त के नाम पर और आक्रोश!
"कौन कहता है यह
कि
आगत सन्त में समता थी
थी पक्ष-पात की मूर्ति वह,
समता का प्रदर्शन भी
दश-प्रतिशत नहीं रहा
समता-दर्शन तो दूर।
जिसकी दृष्टि में अभी

उच्च-नीच भेद-भाव है
स्वर्ण और माटी का पात्र
एक नहीं है अभी
समता का धनी हो नहीं सकता वह !

एक के प्रति राग करना ही
दूसरों के प्रति द्वेष सिद्ध करता है,
जो रागी है और द्वेषी भी,
सन्त हो नहीं सकता वह
और
नाम-धारी सन्त की उपासना से
संसार का अन्त हो नहीं सकता,
सही सन्त का उपहास और होगा··
ये वचन कटु हैं, पर सत्य हैं,
सत्य का स्वागत हो !"

फिर,
सेठ को उपहास की दृष्टि से
देखता हुआ कलश कहता है कि
"गृहस्थ अवस्था में—
नाम-धारी सन्त यह
अकाल में पला हुआ हो
अभाव-भूत से घिरा हुआ हो
फिर भला कैसे हो सकता है
बहुमूल्य वस्तुओं का भोक्ता !
तभी तो···
दरिद्र-नारायण-सम
स्वर्णादि पात्रों की उपेक्षा कर
माटी का ही स्वागत किया है।
□

स्वर्ण-कलश की कटुता से
कलुषित हुए बिना,
माटी के कुम्भ में भरे पायस ने
पात्र-दान से पा यश
उपशम-भाव में कहा, कि
"तुम में पायस ना है
तुम्हारा पाय सना है
पाप-पंक से पूरा अपावन,
पुण्य के परिचय से वंचित हो तुम,
तभी तो…
पावन की पूजा रुचती नहीं तुम्हें
पावन को पाखण्ड कहते हो तुम।
जिसकी आँखों में काला पानी भी उतरा हो
देख सकता वह इस दृश्य को।
तुम्हारी पापिन आँखों ने
पीलिया रोग को पी लिया है
अन्यथा क्यों बनी है
तुम्हारी काया पीली-पीली ?

पर-प्रशंसा तुम्हे शूल-सी चुभती है
कुम्भ के स्वागत-समादर से
आग-बबूल हुए हो,
जो भीतर होगा वही तो बाहर आयेगा,
स्वयं मठा-महेरी पी कर
औरों को क्षीर-भोजन कराते समय
डकार आयेगी तो…खट्टी ही !

तुम स्वर्ण हो
उबलते हो झट से,
माटी स्वर्ण नहीं है
पर

स्वर्ण को उगलती अवश्य,
तुम माटी के उगाल हो !

आज तक
न सुना, न देखा
और न ही पढ़ा, कि
स्वर्ण में बोया गया बीज
अंकुरित होकर
फूला-फला, लहलहाया हो
पौधा बनकर।
हे स्वर्ण-कलश !
दुखी-दरिद्र जीवन को देखकर
जो द्रवीभूत होता है
वही द्रव्य अनमोल माना है।
दया से दरिद्र द्रव्य किस काम का ?
माटी स्वयं भीगती है दया से
और
औरों को भी भिगोती है।
माटी में बोया गया बीज
समुचित अनिल-सलिल पा
पोषक तत्त्वों से पुष्ट-पूरित
सहस्र गुणित हो फलता है।

माटी के स्वभाव-धर्म में
अल्पकाल के लिए
अत्यल्प अन्तर आना भी
विश्व के श्वासों का विश्वास ही समाप्त।
यानी
प्रलयकाल का आना है।

एक बात और
हे स्वर्ण-कलश !

यथार्थ में तुम सवर्ण होते
तो फिर…वह…
दिनकर का दुर्लभ दर्शन
प्रतिदिन क्यों न होता तुम्हें ?
हो सकता है दिवान्ध-सम
प्रकाश से भय लगता हो तुम्हें,
इसीलिए तो…
बहुत दूर… भू-गर्भ में
गाड़े जाते हो तुम।
सम्भव है रसातल में
रस आता हो तुम्हें,
तुम्हारी संगति करने वाला
प्रायः दुर्गति का पथ पकड़ता है
यह कहना असंगत नहीं है।
तुम्हें देखने मात्र से
बन्धन से साक्षात्कार होता है
बन्धन-बद्ध बन्धक भी हो तुम
स्व और पर के लिए।

परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,
पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम
और
अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !

हे स्वर्ण-कलश !
एक बार तो मेरा कहना मानो,
कृतज्ञ बनो इस जीवन में,
माँ माटी को अमाप मान दो
मात्र माँ, माँ, नाम लो अब !"

□

पायस का साहस
इसके आगे नहीं होता देख
यह लेखनी कुछ और कहने को
उद्यम-शीला होती है, कि
"हे स्वर्ण-कलश !
गुणियों का गुणगान करना तो दूर
निर्दोषों को सदोष बताकर
अपने दोषों को छुपाना चाहते हो तुम !
सन्त पर आक्रोश व्यक्त करना
समता का उपहास करना
सेठ का अपमान करना · ·
आदि-आदि ये सब
अक्षम्य अपराध हैं तुम्हारे,
तथापि उन्हें गौण कर
मात्र तुम्हारे सम्मुख—
माटी की महिमा ही नहीं रखती हूँ,
दो उदाहरण प्रस्तुत कर
तुम्हारा भी कितना मूल्य-महत्त्व है,
बताना चाहती हूँ·· लो,

दीपक और मशाल
सामान्य रूप से
दोनों प्रकाश के साधन हैं,
पर,
दोनों के गुण-धर्म भिन्न-भिन्न।
डेढ़-दो हाथ का बांस ले
उसके एक छोर पर
एक-के-ऊपर-एक कर
कस-कस कर
चिंदियाँ बाँधी जाती हैं,

नीचे पकड़ने हेतु स्थान होता है,
बस, यही मशाल है।

मशाल के मुख पर
माटी मली जाती है
असंयत होता है, इसलिए।

मशाल से प्रकाश मिलता है
पर अत्यल्प !
उससे अग्नि की लपटें उठती हैं
राक्षस की लाल रसना-सी
उन लपटों को ज्योति नहीं कह सकते।
मशाल अपव्ययी भी है,
बार-बार तेल डालना पड़ता है
उसके मुख पर,
वह भी मीठा तेल मूल्यवान्।

हाँ ! हाँ ! कभी-कभी
मनोरंजन के समय पर
मशाल ले चलने वाला पुरुष
अपने मुख में मिट्टी का तेल भर कर
आकाश में···सुदूर··· हाथ उठाकर
मशाल के मुख पर फूँकता है,
तब
एकाध पल में ही तेल सारा जलकर
काले-काले बादल से धूम के रूप में
शून्य में लीन-विलीन होता है।
और
मशाल लगता है प्रलय कालीन
अग्निकुण्ड-सम भयंकर !
थोड़ी-सी असावधानी हो···तो
हा-हाकार, हानि-ही-हानि···।

फूंक मारने से मशाल बुझ नहीं सकता
बुझाने वाले का जीवन ही बुझ सकता है,
कोई साधक साधना के समय
मशाल को देखते-देखते
ध्यान-धारणा साध नहीं सकता
इसमें मशाल की अस्थिरता ही कारण है,
'ध्येय यदि चंचल होगा, तो
कुशल ध्याता का शान्त मन भी
चचल हो उठेगा ही'
और भी ऐसे
कई दुर्गुण हैं मशाल के !
मिशाल कितने दूं, यूं कह
दूसरे उदाहरण को ओर मुड़ती है
यह लेखनो।

दीपक संयमशील होता है
बढ़ाने से बढ़ता है,
और
घटाने से घटता भी।
अल्प मूल्य वाले मिट्टी के तेल से
पूरा भरा दीपक ही
अपनी गति से चलता है,
तिल-तिल होकर जलता है,
एक साथ तेल को नहीं खाता,
आदर्श गृहस्थ-सम
मितव्ययी है दीपक ।
कितना नियमित, कितना निरीह !
छोटा-सा बालक भी
अपने कोमल करों में
मशाल को नहीं,

दीपक ले चल सकता है प्रेम से।
मशाल की अपेक्षा
अधिक प्रकाशप्रद है यह।
उष्ण उच्छृंखल प्रलय-स्वभावी
मिट्टी का तेल भी वह
दीपक से स्नेह पाकर
ऊर्ध्वगामी बनता है।
पथ-भ्रष्ट एकाकी
अन्धकार से घिरा भयातुर
पथिक वह
दीपक को देखते ही अभीत होता है।

सुना है श्मशान में,
भूतों के हाथ में मशाल होता है
जिसे देखते ही
निर्भीक की आँखें भी बन्द हो जाती हैं।

लो, दीपक की लाल लौ
अग्नि-सी लगती, पर अग्नि नहीं,
स्व-पर-प्रकाशिनी ज्योति है वह
जो स्पन्दनहीना होती है
जिसे अनिमेष देखने से
साधक का उपयोग वह
नियोग रूप से,
स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर
बढ़ता-बढ़ता, शनैः शनैः
व्यग्रता से रहित हो
एकाग्र होता है कुछ ही पलों में।
फिर, फिर क्या ?
समग्रता से साक्षात्कार !

दीपक की कई विशेषतायें हैं
कहाँ तक कहूँ !

कोई ओर छोर भी तो···हो !
अस्तु,
हे स्वर्ण कलश !
तुम तो हो मशाल के समान,
कलुषित आशयशाली
और
माटी का कुम्भ है
पथ-प्रदर्शक दीप-समान
तामस-नाशी
साहस सहंस-स्वभावी !

स्वर्ण-कलश को
मशाल की उपमा मिलने से
अपमान का अनुभव हुआ,
एकाक्षिणी इस लेखनी ने
मेरी प्रशंसा के मिष
इस निन्द्य-कार्य का सम्पादन किया,
इसमें मेरा भी अपराध सिद्ध होता है,
पर-निन्दा में मुझे निमित्त बनाया गया
यूँ स्वयं को
धिक्कारते हुए
माटी के कुम्भ ने दीर्घ श्वास लिया
फिर,
प्रभु से प्रार्थना प्रारम्भ :
"इन वैभव-हीन भव्यों को
भवों-भवों में
पराभव का अनुभव हुआ।
अब,

'परा'- भव का अनुभव वह
कब होगा ?...
सम्भव है या नहीं
निकट भविष्य में ?
अविलम्ब बताओ, प्रभो !

प्रभु पन पाने से पूर्व
एक की प्रशंसा
एक का प्रताड़न
एक का उत्थान
एक का पतन
एक धनी, एक निर्धन
एक गुणी, एक निर्गुण
एक सुन्दर, एक बन्दर
यह सब क्यों ?
इस गुण-वैषम्य से
इसे पीड़ा होती है, प्रभो !
देखा नहीं जाता
और
इसी कारण बाध्य होकर
आँखें बन्द करनी पड़ती हैं।
बड़ी कृपा होगी,
बड़ा उपकार होगा,
सब में साम्य हो, स्वामिन् !"

□

कुम्भ की प्रार्थना से चिढ़ती हुई
स्फटिक की झारी ने कहा कि,
"अरे पापी !

पाप-भरी प्रार्थना से
प्रभु प्रसन्न नहीं होते,
पावन की प्रसन्नता वह
पाप के त्याग पर आधारित है।

मैंने अग्नि की परीक्षा दी है
ऐसा बार-बार कह कर,
जो
अपने को निष्पाप सिद्ध करना चाहता है
यह पाप ही नहीं
अपितु महापाप है।

तुम में इतना पाप का संग्रह है
कि जो
युगों-युगों तक
जलाने से जल नहीं सकता,
धुलाने से धुल नहीं सकता।

प्रलय के दिनों में
जल की ही नहीं,
अग्नि की वर्षा भी
तेरे ऊपर हुई कई बार!
फिर भी,
तेरी कालिमा में कुछ तो अन्तर आता?

और सुन!
बाहर से भले ही दिखती है
काली मेघ-घटाओं से घिरी
सावन की अमा की निशा-सी
बबूल की लकड़ी भी वह
अग्नि-परीक्षा देती है
और
बार-बार नहीं, एक ही बार में

अपने जीवन को
सब पापों से रीता बनाती है।

इसीलिए तो…
रजत-सम शुभ्र छविवाली
राख बन लसती है।"
इस पर बीच में ही कुम्भ ने कहा,
कि,
"अग्नि-परीक्षा के बाद भी
सब कोयलों में बबूल के कोयले
काले भी तो होते हैं
वह क्यों ? बता दो !"

लो, उत्तर देती है झारी :
"अरे मतिमन्द, मदान्ध, सुन !
अनुपात से अग्नि का ताप
कम मिलने से ही
लकड़ियाँ पूरी न जल कर
कोयले का रूप ले लेती है,
अन्यथा
वह राख में ढलती ही हैं।
इस कार्य में
या तो अग्नि का दोष है
किंवा
लकड़ी में शेष रहे जलांश का
किन्तु,
लकड़ी का दोष किंचित् भी नहीं,
इतनी साधारण-सी बात भी
तुझे क्या ज्ञात नहीं ?

जा, जा, कहीं भी !
तेरे साथ अधिक बोलना भी

दोषों का स्वागत करना है !…"
और
मुख मोड़ लेती है झट से
कुम्भ की ओर से झारी।

"मेरे साथ बोलना भी यदि
पाप है तो…मत बोलो,
मुझे देखने से यदि
ताप हो तो…मत देखो,
परन्तु
अपनी बुद्धि से पाप के विषय में
जो कुछ निर्णय लिया है तुमने
वह विपरीत है
बस, यही बताना चाहता हूँ।
कम-से-कम इसे सुन तो लो !
…फिर तोलो !"
और
कुम्भ का सुनाना प्रारम्भ हुआ :
'स्व' को स्व के रूप में
'पर' को पर के रूप में
जानना ही सही ज्ञान है,
और
'स्व' में रमण करना
सही ज्ञान का 'फल'।

विषयों का रसिक
भोगों-उपभोगों का दास,
इन्द्रियों का चाकर
और…और क्या ?
तन और मन का गुलाम हो
पर-पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है,

यही पाप है···
सब पापों का बाप !

अरी झारी !
जरा अपनी ओर भी देख
तेरी वृत्ति-प्रवृत्ति कैसी है ?
तुझमें दूध भरने से
धवला हो उठती है,
तेरी पारदर्शिता तब
पता नहीं कहाँ चली जाती ?
घृत भरने से
तू पीली हो लेती
और
इक्षु-रस के योग से
हरी-भरी हो लसती है
मरकत मणि की छवि ले !
निरे-निरे योग में
हाव-भाव रंग-राग
पल में पलट लेती है तू,
वासना से भरी अप्सरा-सी,
विक्रिया के बल पर
क्रिया-प्रतिक्रिया कर लेती है।

इतना ही नहीं,
तेरे निकट पड़े हुए पदार्थ
जो
काले हों या पीले
हरे हों या लाल-गुलाब
उनके गुण-धर्मों को
आत्मसात् कर लेती है;
तेरी भोगाभिलाषा सीमा पर है

जात-पात को भी, हा
लात लगा दी तूने !
लाज-लिहाज वाली
कोई वस्तु ही नहीं तेरे लिए !
इसे तू समता नहीं कह सकती
न ही असीम क्षमता !

दूसरों से प्रभावित होना
और
दूसरों को प्रभावित करना,
इन दोनों के ऊपर
समता की छाया तक नहीं पड़ती।
तेरे रग-रग में
राग भरा है निरा।
भले ही बाहर से दिखती है
स्फटिक-मणि की रची
उर्मिल उजली-तरली-सी
अरी, मायाविनी झारी !
कब तक छुपा सकती है राज़ को ?

अब बकवाद मत कर
बक ने सबक लिया है
तेरी इस प्रकृति से ही !

अब अपनी प्रकृति का परिचय क्या दूँ ?
जो कुछ है खुला है"
यूँ कुम्भ ने कहा।
"यह घट घूँघट से परिचित हुआ भी कब ?
आच्छादन के नाम से
इस पर आकाश भर तना है
चाव-बचाव, सब कुछ
इसी की छाँव में है।

पास यदि पाप हो तो···छुपाऊँ,
छुपाने का साधन जुटाऊँ,
औरों की स्वतन्त्रता वह
यहाँ आ लुटती नहीं कभी,
न ही किसी से अपनी मिटती है।

किसी रंग-रोगन का मुझ पर प्रभाव नहीं,
सदा-सर्वथा एक-सी दशा है मेरी
इसी का नाम तो समता है
इसी समता की सिद्धि के लिए
ऋषि महर्षि सन्त-साधु-जन
माटी की शरण लेते हैं,
यानी
भू-शयन की साधना करते हैं
और

समता की सखि, मुक्ति वह
सुरों-असुरों-जलचरों
और नभश्चरों को नहीं,
समता-सेवी भूचरों को वरती है।
अरी झारी, समझी बात !
माटी को बावली समझ बैठी तू
पाप की पुतली कहीं की।"
और
कुम्भ डूबता है मौन में···

□

पाप की पुतली के रूप में
झारी को मिला सम्बोधन,
जिसे सुनकर

झारी में भरा अनार का रस वह
और लाल हो उठा।
अपने सम्मुख स्वामी के अपमान को देख
क्या सही सेवक तिलमिलाता नहीं ?
आधार का हिलना ही
आधेय का हिलना है।
और
उत्तेजित स्वर में रस कहता है कि,
"सेठ की शालीनता की मात्रा,
श्रमण की श्रमणता
समता-सुलीनता की छवि
कितनी है, किस कारण है—
यह सब ज्ञात है हमें।
पानी कितना गहरा है
तट-स्पर्श से भी जाना जा सकता है।"

और इधर
सीसम के श्यामल आसन पर
चाँदी की चमकती तश्तरी में
पड़ा-पड़ा केसरिया हलवा—
जिस हलवे में
एक चम्मच शीर्षासन के मिष
अपनी निरुपयोगिता पर
लज्जित मुख को छुपा रहा है,
अनार का समर्थन करता हुआ कहता है
कि

"श्रमण की सही मीमांसा की तुमने
और
सन्त से उपेक्षित होने के कारण
घृत की अधिकता के मिष
डबडबाती आँखों से रोता-सा।

सन्त की शरण लेने की आशा से
घृत की सुवास आती है
सन्त की नासा तक।
और ज्यों ही,
नासिका में प्रवेश का प्रयास हुआ कि
विरेचक-विधि की लात खा कर
भागती-भागती आ
घृत से कहती है, कि
सन्त की शरण, बिना आसिका है
भीतर-विभीषिका पलती है वहाँ,
वह नासिका विनाशिका है सुख की
बिना शिकायत यहीं रहना चाहती हूँ
अब मुझे वहाँ मत भेजो !

लो, इधर फिर से
केसर ने भी अपना सर हिलाते हुए
आश्चर्य प्रकट किया, कि
अशरण को शरण देना तो दूर,
उसे
मुस्कान-पली दृष्टि तक नहीं मिली।

जिनके सर के
केश रहे कहाँ काले,
श्रमण भेष धारे
वर्षों - युगों व्यतीत हुए
पर, श्रामण्य का अभाव-सा लगता है
सर होते हुए भी बिसर चुके हैं
अपने भाव-धर्म।
वह सर-दार का जीवन
असर-दार कहाँ रहा ?
अब सरलता का आसार भी नहीं,
तन में, मन में, चेतन में।

अवसर सरक चुका है
अतीत के असीम वन में।
मानता हूँ,
कि सदा-सदा से
ज्ञान ज्ञान में ही रहता,
ज्ञेय ज्ञेय में ही,
तथापि
ज्ञान का जानना ही नहीं
ज्ञेयाकार होना भी स्वभाव है,
तो…इस ओर देखने में
हानि क्या थी ?

लगता है ज्ञेयों से भय लगता हो
नामधारी सन्त के ज्ञान को,
ऐसी स्थिति में निश्चित ही
स्वभाव समता से विमुख हुआ जीवन
अमरत्व की ओर नहीं
समरत्व की ओर,
मरण की ओर, लुढ़क रहा है।
और सुनो !
उच्च स्वर में केसर ने कहा :
जीवन का, न यापन ही
नयापन है
और
नैयापन !

□

इस भाँति,
कुम्भ और अन्य पात्रों के बीच
वाद-विवाद होता गया,

संवाद की बात गौण हुई
क्रम-क्रम से
प्रायः सब पात्रों ने
माटी के पात्र को
उपहास का पात्र ही बनाया,
उसे मूल्यहीन समझा ।
प्रायः बहुमत का परिणाम
यही तो होता है,
पात्र भी अपात्र की कोटि में आता है
फिर,
अपात्र की पूजा में पाप नहीं लगता।
दुर्जन-व्यसनी की भाँति
भाँति-भाँति के व्यंजनों ने
श्रमण की समता को
अभिनय के रूप में ही देखा
और
खुल कर
सेठ और श्रमण की अविनय की ।

अब तक इधर···
परिवार का भोजन पूर्ण हो चुका है,
आज का अनुभव तो अनुभव है
न ही अभाव का
न भव का
यथार्थ में, बस
भोजन का प्रयोजन विदित हुआ,
साधु बन कर
स्वाद से हटकर
साध्य की पूजा में डूबने से
योजनों दूर वाली मुक्ति भी वह

साधक को ओर दौड़ती-सी लगती है
सरोज की ओर रवि किरणावली-सी।

कुछेक दिन तक
बीच-बीच में रुक-रुक कर
बिजली की कौंध-सी
चलित-विचलित हो
शान्त होती गई बाहर से
वाद-विवाद की स्थिति, इन पात्रों की।
भीतरी बात दूसरी है
अवा की ऊष्मा-सी
वह तो बनी ही रहती
प्रायः तन-धारकों में, सब में।

एक पक्ष का संकल्प जो था
सो सम्पन्न हुआ सानन्द,
और
कृष्ण-पक्ष का आगमन हुआ।
दैनिक कार्यक्रमों से निवृत्त हो
निद्रा की गोद में सो रहा पूरा परिवार,
परन्तु
बार-बार करवटें ले रहा सेठ,
निद्रा की कृपा उस पर नहीं हुई,
और
निशा कट नहीं रही है,
बहुत लम्बी लग रही वह।

सेठ का तन आमूल-चूल
तवा-सम तप रहा है
लगभग जलांश जल चुका है
तभी···तो
रुक-रुक कर
रुदन होने पर भी

उसकी आयत आँखों मे
आँसुओं का आना रुक गया है
और
अन्दर का आर्त अन्दर हो
अवरुद्ध हो घुट रहा है।
बार-बार पलकों को टिमकार से
आँखों में जलन का अनुपात बढ़ रहा है
मन्द-मन्द पवन-चालन से
प्रथम तो
अग्नि सुलगती है,
फिर, प्रबल प्रदीप्त होती ही है।

यद्यपि इस बात का प्रबन्ध है कि
सेठ जी के शयन-कक्ष में
खिड़कियों से हो-होकर
मन्द-शीतलशील
पवन प्रवेश पाता है प्रतिपल
परन्तु,
सेठ के मुख से निकलती हुई
उष्णिल श्वासों की लपटों से
पूरा माहौल धगधगाहट में
बदल जाता है।

कृपा-पालित कपाल से
पलायित-सी हुई कृपा
और
लाल-लोहित कपाल बना सेठ का,
जिस पर बैठने को
मचलता हुआ एक मच्छर
जो रुधिर-जीवी है,
घबरा रहा है, बैठ नहीं रहा।

कारण,
कपाल तक पहुँचते ही
मच्छर की प्यास दुगुनी हो उठी,
अंग पूरा तप गया,
कण्ठ पूरा सूख गया,
पंख दोनों शिथिल हुए,
और
उत्कण्ठा कहीं उड़ गई !
और मच्छर वह
गुनगुनाहट के मिष
यूँ कहता हुआ उड़ गया, कि

"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,
उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,
काकतालीय-न्याय से
कुछ मिल भी जाय
वह मिलन लवण-मिश्रित होता है
पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।

सर्वप्रथम प्रणिपात के रूप में
उनकी पाद-पूजन की,
फिर
स्वर लहरी के साथ
गुणानुवाद - कीर्तन किया
उनके कर्ण-द्वार पर।
फिर भी मेरी दुर्दशा यह हुई !"

अपने मित्र मच्छर से
सेठ की निन्दा सुन कर
दक्षिणा के रूप में
रक्त-बूँद का प्यासा

सेठ की प्रदक्षिणा लगाता
मत्कुण कहता है, कि—
"क्या कहें हे सखे !
सही समय पर,
सही दिशा दी तुमने
दम्भी लोभी-कृपण की
परिभाषा दी तुमने,
कब से चली आती
कब तक चली जाती
यह
भ्रान्ति-निशा मिटा दी तुमने,
मानव के सिवा
इतर प्राणि-गण
अपने जीवन-काल में
परिग्रह का संग्रह करते भी कब ?

इस बात को मैं भी मानता हूँ कि
जीवनोपयोगी कुछ पदार्थ होते हैं,
गृह-गृहणी घृत-घटादिक
उनका ग्रहण होता ही है
इसीलिए सन्तों ने
पाणिग्रहण संस्कार को
धार्मिक संस्कृति का
संरक्षक एवं उन्नायक माना है।
परन्तु खेद है कि
लोभी पापी मानव
पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते है।

प्रायः अनुचित रूप से
सेवकों से सेवा लेते

और
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।
ये अपने को बताते
मनु की सन्तान !
महामना मानव !
देने का नाम सुनते ही
इनके उदार हाथों में
पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं,
फिर भी, एकाध बूंद के रूप में
जो कुछ दिया जाता
या देना पड़ता
वह दुर्भावना के साथ ही।

जिसे पाने वाले पचा न पाते सही
अन्यथा
हमारा रुधिर लाल होकर भी
इतना दुर्गन्ध क्यों ?"
और रुष्ट हुए बिना मत्कुण वह
दक्षिणा की आशा से विरत हो
प्रदक्षिणा-कार्य तज कर
सेठ से कहता है, कि
"सूखा प्रलोभन मत दिया करो
स्वाश्रित जीवन जिया करो,
कपटता की पटुता को
जलांजलि दो !
गुरुता की जनिका लघुता को
श्रद्धांजलि दो !
शालीनता की विशालता में
आकाश समा जाय
और

जीवन उदारता का उदाहरण बने !
अकारण ही—
पर के दुःख का सदा हरण हो !"
अन्त में अपना मंतव्य
और रखता है मत्कुण :

"मैं कण हूँ, मन नहीं,
मैं धन नहीं हूँ, अतः
किसी के मरण का कारण
रण नहीं हूँ।
मैं ऋणी नहीं हूँ किसी का
बली भी नहीं हूँ,
न ही किसी के बल पर
जी रहा हूँ या जीना चाहता हूँ !
मैं बस हूँ…
ऐसा ही रहना चाहता हूँ।
मेरे पास न कोई मन्त्र है, न यन्त्र
न ही कोई षड्यन्त्र।
मेरा समग्र जीवन नियन्त्रित है।
मैं छली नही हूँ,
किसी के छिद्र देखता नहीं
छिद्र में रहता अवश्य !"
और
छोटे से छिद्र मे जा
प्रविष्ट होता है मत्कुण।

मत्कुण के माध्यस्थ मुख से
मौलिक वचन सुनकर
सेठ का मन मुदित हो उठा,
और
प्रशिक्षित भी !

□

निशा का बिखरना
और
ऊषा का निखरना
अति मन्द गति से हुआ।
प्रतीक्षा की घड़ियाँ,
बहुत लम्बी हुआ करती हैं ना!
और वह भी
दुःख भरी वेला में—
तब कहना ही क्या!
वैसे,
सुख का काल
अकूल सागरोपम भी
सरपट भागता है अनन्य गति से,
पता नहीं चलता कब
किस विध और कहाँ
चला जाता वह?

प्रभातकाल की बात है :
एक-से-एक अनुभवी
चिकित्सा-विद्या-विशारद
विश्वविख्यात वैद्य
सेठ की चिकित्सा हेतु आगत हैं,
जिनमें
ऐसे भी मेधावी हैं
जो
रोगी के मुख-दर्शन मात्र से
रोग का सही निदान कर लेते हैं;
कुछ···तो
रोगी की रसना का रंग-रूप
लख कर ही,
कुछ नाड़ी की फड़कन से

और
नख-दृग-लालिमा की तर-तमता से
रोग को पहचान पाते हैं।
एक वैद्य ऐसा भी आया है
जिसने अपने जीवन में
परम-पुण्य का पाक पाकर
सुदीर्घ-साधना-साधित
अनन्य-दुर्लभ स्वर-बोध मे
सफलता पाई है;
मन्त्र-तन्त्रवेत्ता,
अरिष्ट-शास्त्र का
वरिष्ट ज्ञाता भी है।

सब ने अपनी-अपनी विधाओं से
सेठ का निरीक्षण किया,
रुक-रुक कर अर्द्ध-मूर्च्छित-सी
दशा हो आती है,
निद्रा से घिरी-सी
काया की चेष्टा है
पर, वचन की चेष्टा नहीं के बराबर!

क्रमशः सब ने
अपने-अपने निर्णय लिये
सब का अभिमत एक रहा
कि

दाह का रोग हुआ है
आह का योग हुआ है,
एक ही दिशा में
एक ही गति से
चाह का भोग हुआ है;
और

चिकित्सकों का कहना हुआ—
इन्हें इतनी चिन्ता नहीं करनी चाहिए
थोड़ी-सी
तन की भी चिन्ता होनी चाहिए,
तन के अनुरूप वेतन अनिवार्य है,
मन के अनुरूप विश्राम भी।
मात्र दमन की प्रक्रिया से
कोई भी क्रिया
फलवती नहीं होती है,
केवल चेतन-चेतन की रटन से,
चिन्तन-मनन से
कुछ नहीं मिलता !

प्रकृति से विपरीत चलना
साधना की रीत नहीं है।
बिना प्रीति, विरति का पलना
साधना की जीत नहीं,
'भीति बिना प्रीति नहीं'
इस सूक्ति में
एक कड़ी और जुड़ जाय,
तो बहुत अच्छा होगा, कि
'प्रीति बिना रीति नहीं
और
रीति बिना गीत नहीं'
अपनी जीत का—
साधित शाश्वत सत्य का।
यह बात सही है कि
पुरुष होता है भोक्ता
और
भोग्या होती प्रकृति।

जब भोक्ता रस का स्वाद लेता है,
लाड़-प्यार से
लार का सिंचन कर
रस को और सरस बनाती है
रसना के मिष प्रकृति भी।
लीला-प्रेमी द्रष्टा-पुरुष
अपनी आँखों को जब
पूरी तरह विस्फारित कर
दृश्य का चाव से दर्शन करता है,
तब, क्या ?...
प्रमत्त-विरता प्रकृति सो...
पलकों के बहाने
आँखों की बाधाओं को दूर करती
पल-पल सहलाती-सी... !
पुरुष योगी होने पर भी
प्रकृति होती सहयोगिनी उसकी,
साधना की शिखा तक
साथ देती रहती वह,
श्रमी आश्रयार्थी को
आश्रय देती ही रहती
सदोहिता स्वाश्रिता होकर !

यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं है कि
पुरुष में जो कुछ भी
क्रियायें-प्रतिक्रियायें होती हैं,
चलन - स्फुरण - स्पन्दन,
उनका सबका अभिव्यक्तिकरण,
पुरुष के जीवन का ज्ञापन
प्रकृति पर ही आधारित है।
प्रकृति यानी नारी

नाड़ी के विलय में
पुरुष का जीवन ही समाप्त···!

अन्त मे
यह भी ज्ञातव्य है कि
प्रकृति में वासना का वास ना है
सुरभि यानी
सुवास का वास अवश्य है।
विविध विकार की दशा मे
पुरुष वासना का दास हो
वासना की तृप्ति-हेतु
परिक्लान्त-पथिक की भाँति
प्रकृति की छाँव में
आँखें बन्द कर लेता है,
और
यह अनिवार्य होता है
पुरुष के लिए तब···!

इमली का सेवन तो दूर रहे
इमली का स्मरण भी
मुख में पानी लाता है
स्वस्थ के नहीं,
प्यास से पीड़ित पुरुष के।
यह तो स्वाभाविक है,
किन्तु
आश्चर्य की बात तो यह है, कि
भोक्ता के मुख में जा कर भी
कभी भी
इमली के मुख में पानी नहीं आता।
हाँ,
रक्ता-आसक्ता-सी लगती है
पुरुष में प्रकृति···तब !

यही तो पुरुष का पागलपन है
···पामर-पन
जो युगों-युगों से
विवश हो,
हवस के वश होता आया है,
और
यही तो प्रकृति का
पावन-पन है पारद-पन
जो युगों-युगों से
परवश हुए बिना,
स्व-वश हो
पावस बन बरसती है,
और पुरुष को
विकृत-वेष आवेश से छुडा कर
स्ववश होने को विवश करती,
पथ प्रशस्त करती है।

पुरुष और प्रकृति
इन दोनों के खेल का नाम ही
संसार है, यह कहना
मूढ़ता है, मोह की महिमा मात्र !
खेल खेलने वाला तो पुरुष है
और
प्रकृति खिलौना मात्र !
स्वयं को खिलौना बनाना
कोई खेल नहीं है,
विशेष खिलाड़ी की बात है यह !
□

पा लिया
प्रकृति और पुरुष का परिचय,

वेद मिला, भेद खुला—
'प्रकृति का प्रेम पाये बिना
पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं'
चिकित्सकों के मुख से निष्कर्ष के रूप में
परिवार ने सुन स्वीकार लिया यह,
और
सविनय निवेदन किया कि
"सेठ जी को आरोग्य शीघ्र प्राप्त हो,
रोग का प्रतिकार हो
ऐसा उपचार करो।
बताये गये पथ्य का पालन
शत-प्रतिशत किया जायेगा,
जो कहो जैसा कहो
सो···वैसा स्वीकार है।

राशि की चिन्ता न करें
मान-सम्मान के साथ
वह तो मिलेगी ही,
पुरुष की सेवा के लिए
सदा तत्परा मिलती जो
दासी-सी
छाया की ललित छवि-सी···!

वैसे
चिकित्सकों की दृष्टि वह
राशि की ओर कभी मुड़ती ही नहीं,
मुड़नी भी नहीं चाहिए,
मर्यादा में जीती—सुशीला
कुलीन-कन्या की मति-सी,
फिर भी
कलियुग का अपना प्रभाव भी तो है

जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ नहीं पाता
यदि बढ़ भी जाय
दृढ रह नहीं पाता।
सुन भी रहे
देख भी तो रहे कि

सकल-कलाओं का प्रयोजन बना है
केवल
अर्थ का आकलन-संकलन।
आजीविका से, छी ··छी···
जीभिका-सी गन्ध आ रही है,
नासा अभ्यस्त हो चुकी है
और
इस विषय में, खेद है—
आँखें कुछ कहती नहीं।

किस शब्द का क्या अर्थ है,
यह कोई अर्थ नहीं रखता अब !

कला शब्द स्वयं कह रहा कि
'क' यानी आत्मा—सुख है
'ला' यानी लाना—देता है
कोई भी कला हो
कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।
न अर्थ में सुख है
न अर्थ से सुख !"
वैषयिक लोभ-लिप्सा से दूर
परिवार के मुख से
कला-विषयक कथन सुन
चिकित्सक दल सचेत हुआ
जिसे देख कर परिवार भी

प्रासंगिक परिचर्चा में
पर्याप्त परिवर्तन लाता है
और
कुछ निवेदन करता है कि,
बीच में ही माटी का कुम्भ बोल पड़ा :
"जहाँ तक पथ्य की बात है
सो
सब चिकित्सा-शास्त्रों का
एक ही मत है, बस--

पथ्य का सही पालन हो...तो
औषध की आवश्यकता ही नहीं,
और यदि
पथ्य का पालन नहीं हो...तो भी
औषध की आवश्यकता नहीं।

इस पर भी यदि
औषध की बात पूछते हो,
सुन लो !
तात्कालिक
तन-विषयक-रोग ही क्या,
चिरन्तन चेतन-गत रोग भी
जो
जनन-जरन-मरण रूप है
नव-दो-ग्यारह हो जाता है पल में,
श, स, ष
ये तीन बीजाक्षर हैं
इन से ही फूलता-फलता है वह
आरोग्य का विशाल-काय वृक्ष !
इनके उच्चारण के समय
पूरी शक्ति लगा कर

श्वास को भीतर ग्रहण करना है
और
नासिका से निकालना है
ओंकार-ध्वनि के रूप में।

यह शकार-त्रय ही
स्वयं अपना परिचय दे रहा है कि
'श' यानी
कषाय का शमन करने वाला,
शंकर का द्योतक, शंकातीत,
शाश्वत शान्ति की शाला…!
'स' यानी
समग्र का साथी
जिसमें समष्टि समाती,
संसार का विलोम-रूप
सहज सुख का साधन
समता का अजस्र स्रोत…!
और
'ष' की लीला निराली है।
प के पेट को फाड़ने पर
'ष' का दर्शन होता है—
'प' यानी
पाप और पुण्य
जिन का परिणाम संसार है,
जिसमें भ्रमित हो पुरुष भटकता है
इसीलिए जो
पुण्यापुण्य के पेट को फाड़ता है
'ष' होता है कर्मातीत।
यह हुआ भीतरी आयाम,
अब बाहरी…भी…सुनो!

भूत की माँ भू है,
भविष्य की माँ भी भू।
भाव की माँ भू है,
प्रभाव की माँ भी भू।
भवना की माँ भू है,
सम्भावना की माँ भी भू।
भावनो की माँ भू है,
भूधर की माँ भू है,
भूचर की माँ भी भू।
भूख की माँ भू है,
भूमिका की माँ भी भू।
भव की माँ भू है,
वैभव की माँ भी भू,
और
स्वयम्भू की माँ भी भू।
तीन काल में
तीन भुवन में
सब की भूमिका भू।
भू के सिवा कुछ दिखता नहीं
भू…भू · भू…भू
यत्र-तत्र-सर्वत्र…भू।
'भू सत्तायां' कहा है ना
कोषकारों ने युग के अथ में !

और सुनो,
भू का पना माटी है
तभी तो…
यह सूक्ति गुनगुना रही है :
'माटी, पानी और हवा
सौ रोगों की एक दवा'

यह उपचार तो स्वतन्त्र है
अपव्ययी नहीं, मितव्ययी है।
इसके प्रयोग से
किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती
तन और मन के किसी कोने में।

□

छूने को मन मचले
ऐसी छनी हुई
कुंकुम-मृदु-काली माटी में
नपा-तुला शीतल जल मिला,
उसे रौंध-रौंध कर
एकमेक लौंदा बना,
एक टोप बना कर
मूर्च्छा के प्रतिकार हेतु
सर्व प्रथम,
सेठ जी के सर पर चढ़ाया गया।

जल से भरे पात्र में
गिरा तप्त लौह-पिण्ड वह
चारों ओर से
जिस भाँति
जल को सोख लेता है,
उसी भाँति टोप भी
मस्तक में व्याप्त उष्णता को
प्रति-पल पीने लगा।
ज्यों-ज्यों उष्णता का अनुपात
घटता गया
त्यों-त्यों जागृति का प्रभात
प्रकटता गया।

यह लो,
अधरों के सूक्ष्म स्पन्दन से
अनुमान झलकने लगा कि
ओंकार पद के उच्चारण का
उद्यम उत्साहित हो रहा है।
वैसे,
त्रिभुवन-जेता त्रिभुवन-पाल
ओंकार का उपासन
भीतर-ही-भीतर चल ही रहा है
जो
सुदीर्घ-साधना का फल है।

परा-वाक् की परम्परा
पुरा अछूता रही, अपरिचिता
लौकिक शास्त्रानुसार
वह योगिगम्या मानी है,
मूलोद्‌गमा हो, ऊर्ध्वानिना
नाभि तक यात्रा होती है उसकी
पवन-संचालिता जो रही!
फिर वही
नाभि की परिक्रमा करती
पश्यन्ती के रूप में उभरती है,
नाभि के कूप में गाती रहती
तरला-तरंग-छबि-वाली।
पर,
निरी निरक्षरा होती है,
साक्षरों की पकड़ में नहीं आती
विपश्यना की चर्चा में डूबे
संयम से सुदूर हैं जो।

फिर वही पश्यन्ती
उदार-उर की ओर उठती है
हिलाती है आ हृदय-कमल को,
खुली प्रति पाँखुरी से
मुस्कान-मिले बोल बोलती
उन्हें सहलाती है माँ की भाँति !
हृदय-मध्य में
मध्यमा कहलाती है अब।

और, जाने हम, कि
पालक नहीं, बालक ही—
जो विकारों से अछूता है
माँ का स्वभाव जान सकता है।
फिर वही मध्यमा अब,
अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् की ओर
यात्रा प्रारम्भ करती है
पुरुष के अभिप्रायानुरूप !
प्रायः पुरुष का अभिप्राय
दो प्रकार का मिलता है—
पाप और पुण्य के भेद से।

सत्पुरुषों से मिलने वाला
वचन-व्यापार का प्रयोजन
परहित-सम्पादन है
और
पापी-पातकों से मिलने वाला
वचन-व्यापार का प्रयोजन
परहित-पलायन, पीड़ा है।
तालु-कण्ठ-रसना आदि के योग से
जब बाहर आती है वही मध्यमा,
जो सर्व-साधारण श्रुति का विषय हो
वैखरी कहलाती है।

स्वादु और साधु के मुख से निकली
वाणी का नामकरण
एक ही क्यों
ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए।
एक-सी लगती है,
पर एक है नहीं वह।
यहाँ पात्र के अनुसार
अर्थ-भेद ही नहीं
शब्द-भेद भी है।

सज्जन-मुख से निकली वाणी
'वै' यानी निश्चय से
'खरी' यानी सच्ची है,
सुख-सम्पदा की सम्पादिका।
मेघ से छूटी जल की धारा
इक्षु का आश्रय पाकर
क्या मिश्री नहीं बनती ?
और
दुर्जन-मुख से निकली वाणी
'वै' यानी निश्चय से
'खली' यानी धूर्ता-पापिनी है,
सारहीना विपदा-प्रदायिनी
वही मेघ से छूटी जल-धारा
नीम की जड़ में जाकर
क्या कटुता नहीं धरती ?

यहाँ पर
'ली' के स्थान पर
'री' का प्रचलन हुआ है
प्रमाद या अज्ञान से,
मूल में तो,

'ली' का ही प्रयोग है
यानी 'बैखली, ही है।
इस पर भी यदि
वैखरी ही पाठ स्वीकृत हो · तो
इसका अर्थ हम
भिन्न पद्धति से लेते हैं, कि
'ख' का अर्थ होता है
शून्य, अभाव !
इसलिए
'ख' को छोड़ कर
शेष बचे दो अक्षरों को मिलाने पर
शब्द बनता है 'वैरी'
दुर्जनों की वाणी वह,
स्व और पर के लिए
वैरी का ही काम करती है
अतः उसे
वै-खली या वैरी
मानना ही समुचित है
···समस्तु !

□

सहज भाव से
शुद्ध उच्चारण के साथ
शुद्ध तत्त्व की स्तुति की, सेठ ने।
परिवार के साथ वार्ता हुई,
वैद्यों का भी परिचय मिला
वेदना का अनुभव बता दिया,
परन्तु
अविकल-ज्वलन के कारण

आँखें खुल नहीं पा रहीं अभी,
प्रकाश को देखने की क्षमता
अभी उनमें आई नहीं है।
रत्नों की कोमल-किरणें तक
अग्नि की चिनगारी-सी लगती हैं,
अनखुली आँखों को लख कर
कुम्भ ने पुनः कहा कि
"कोई चिन्ता की बात नहीं
मात्र हृदय-स्थल को छोड़कर
शरीर के किसी भी अवयव पर
माटी का प्रयोग किया जा सकता है।

पक्वापक्व रुधिर से भरा घाव हो,
भीतरी चोट हो या बाहरी,
असहनीय कर्ण-पीड़ा हो,
ज्वर से कपाल फट रहा हो,
नासा की नासूर हो,
शीत से बहती हो
या उष्णता से फूटती हो,
और
शिरःशूल आधा हो या पूरा
इन सब अवस्थाओं में
माटी का प्रयोग लाभप्रद होगा।
यहाँ तक कि
हस्त-पाद की अस्थि टूटी हो
माटी के योग से जुड़ सकती है
अविलम्ब !
कुछ ही दिनों में पूर्ववत्
कार्यारम्भ !

कहाँ तक कही जाय माटी की महिमा,
तुला कहाँ है वह,
तौलें कैसे ?
किससे तुलना करें माटी की
यहाँ पर ?
तोल-मोल का अर्थ
द्रव्य से नहीं,
वरन्
भाव, गुण-धर्म से है ।"

कुम्भ का इतना कहना ही पर्याप्त था कि
माटी की
दो-दो तोले की दो-दो गोलियाँ बना
पूड़ियाँ-सी उन्हें आकर दे कर
दोनों आँखों पर रखी गईं,
और
कुछ ही पलों में वैद्यों ने देखे
सफलता के लक्षण !

सो घड़ी-घड़ी के बाद
नाभि के निचले भाग पर भी
रुक-रुक, पलट-पलट कर
दिन में और रात्रि में
छह-सात बार, छह-सात बार
यही प्रयोग चलता रहा, यथाविधि ।

माटी के सफल उपचार से
चिकित्सक-दल प्रभावित हो,
भोजन-पान के विषय में भी
अपना अभिमत बनाता है
कुम्भ के अनुरूप, कि
माटी के पात्र में तपा कर

दूध को पूरा शीतल बना
पेय के रूप में देना है रोगी को,
किंवा
उसी पात्र में अनुपात से जामन डाल
दूध को जमाकर
मथानी से मथ-मथ कर
पूरा नवनीत निकाल
निर्विकार तक्र का सेवन कराना है।
मुक्ता-सी उजली-उजली
मधुर-पाचक-सात्विक
कर्नाटकी ज्वार का
रवादार दलिया जो
अधिक पतला न हो
तक्र के साथ देना है
पूर्वाह्न में,
सन्ध्याकाल टाल कर—

क्योंकि
सन्धि-काल में सूर्य-तत्त्व का
अवसान देखा जाता है
और
सुषुम्ना यानी
उभय-तत्त्व का उदय होता है
जो
ध्यान-साधना का
उपयुक्त समय माना गया है।
योग के काल में भोग का होना
रोग का कारण है,
और
भोग के काल में रोग का होना
शोक का कारण है।

फिर कब···इस—
शोक-सिलसिले का अन्त···वह ?
जब
काल-प्रवाह का सुदूर···खिसकना हो
तब कहीं···
अशोक-वृक्ष की श्यामल छाँव मिले !

□

कुछ ही दिनों में कुछ-कुछ नहीं
सब कुछ अच्छा, अनुच्छा हुआ,
दाह की स्वच्छन्दता छिन्न-भिन्न हुई
इस सफल प्रयोग से ।
कवि के स्वच्छ-भावों की स्वच्छन्दता-ज्यों
तरह-तरह के छन्दों को देखकर
अपने में ही सिमट-सिमट कर
मिट जाती है, आप !

शास्त्र कहते हैं, हम पढ़ें
औषधियों का सही मूल्य
रोग का शमन है ।
कोई भी औषधि हो
हीनाधिक मल्य वाली होती नहो,
तथापि
श्रीमानों, धीमानों की आस्था
इससे विपरीत रीत वाली हुआ करती है,
और जो
बहु-मूल्य औषधियों पर ही टिकी मिलती है ।
सेठ जी इस बात के
अपवाद हैं ।

चिकित्सक-दल का सत्कार किया गया,
सेवानुरूप पुरस्कृत हुआ वह
और
अहिंसा-परक चिकित्सा-पद्धति
जीवित रहे चिर,
बस इसी सदुद्देश से
हर्ष से भीगी आँख ले
विनय-अनुनय से नम्रीभूत हो
स्वयं सेठ ने अपने करों से
नव अंक वाली लम्बी राशि
दल के करों मे दे दी
और
दल की प्रसन्नता पर
अपने को उपकृत माना।

जाते-जाते सेठजी की ओर मुड़कर
दल ने कहा कि
यह सब चमत्कार
माटी के कुम्भ का ही है
उसी का सहकार भी,
हम तो बे निमित्त-मात्र उपचारक···।
और
धन्यवाद देते,
आभार मानते प्रस्थान !

□

'एक बार और लौट आई है
घड़ी अपने सम्मुख
आत्मग्लानि की
मान-हानि की'

और यूँ कहता हुआ
डूब जाता है उदासी में
स्वर्ण-कलश विवश हो,
आत्मा की आस्था से च्युत
निष्कर्मा वनवासी-सम !

एक बार और अवसर प्राप्त हुआ है
इन कुलीन कर्णों को
कुलहीनों की कीर्ति-गाथा
सुनना है अभी !
और वह भी
धन के लोभ से घिरे
सुधी-जनों के मुख से ।
ओह ! कितनी पीड़ा है यह,
सही नहीं जा रही है
कानों में कीलें तो ठोक लूँ !

धुँधली-धुँधली-सी दिख रही है
सत्य की छवि वह;
सन्ध्या की लाली भी डूबने को है,
और एक बार दृश्य आया है
इस पावन आँखों के सम्मुख ।
पतितों को पावन समझ, सम्मान के साथ
उच्च सिंहासन पर बिठाया जा रहा है ।
और
पाप को खण्डित करने वालों को
पाखण्डी-छली कहा जा रहा है ।

ऐसी आशा नहीं थी इस नासा को
न ही विश्वास था कि
एक बार और इस ओर

दौड़ती आयेगी रूखी लहर,
मानवता के पतन की दुर्गन्ध
और
नाजुक नथुनों को नापाक कर
मूर्च्छित कर देगी…!
इस पर भी, रोष को तोष नहीं मिला
कुछ और कहता है स्वर्ण-कलश
चिन्ता से घिरी गम्भीर मुद्रा में
कि

"इसे कलिकाल का प्रभाव ही कहना होगा
किंवा
अन्धकार-मय भविष्य की आभा,
जो
मौलिक वस्तुओं के उपभोग से
विमुख हो रहा है संसार!
और
लौकिक वस्तुओं के उपभोग में
प्रमुख हो रहा है, धिक्कार!

झिलमिल-झिलमिल करती
मणिमय मालायें
मंजुल-मुक्ता की लड़ियाँ,
झरझुर झरझुर करते
अनगिन पहलूदार
उदार हीरक-हार,
तोते की चोंच को लजाते
गूँगे-से मूँगे,
नयनाभिराम नीलम के नग—
जिन्हें देख कर
मयूर-कण्ठ की नीलिमा नाच उठती है,

केशर बिखेरते पुखराज,
पारदर्शक स्फटिक,
अनल-सम लाल होकर भी
शान्त किरणों के पुंज माणिक…
इन सब से केवल
शीतलता ही नहीं मिलती हमें
मधुमेय श्वास - श्वास - क्षय
आदि-आदि राज-रोगों का
उपशमन भी होता है इनसे,
और, प्रायः जीवन पर
ग्रहों का प्रतिकूल प्रभाव भी नहीं पड़ता,
किन्तु आज !
काँच-कचरे को ही सम्मान मिल रहा है।

स्वर्ण के कुम्भ-कलश थालियाँ
रजत के लोटे - प्याले - प्यालियाँ,
जलीय-दोषों के वारक
ताम्र के घट-घड़ू हांडियाँ
बड़ी-बड़ी परात भगोनियाँ…ऐसे
आदि-आदि मौलिक बर्तनों को
बेच-बेच कर
जघन्य सदोष बर्तनों को
मोल ले रहे हैं धनी, धीमान् तक।
आज बाजार में आदर के साथ
बात-बात पर इस्पात पर ही
सब का दृष्टिपात है।
जेल में भी
अपराधी के हाथ-पैरों में
इस्पात की ही
हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ होती हैं।

कहाँ तक कहूँ
और ··इधर
युवा-युवतियों के हाथों में भी
इस्पात के ही कड़े मिलते हैं।
क्या यही विज्ञान है ?
क्या यही विकास है ?
बस
सोना सो गया अब
लोहा से लोहा लो···हा !

सुनो ! सुनो !
कलि की महिमा और सुनो !
चाँदनी की रात में
चन्द्रकान्त मणि से झरा
उज्ज्वल शीतल जल ले
मलयाचल का चन्दन
घिस-घिस कर
ललाट-तल नाभि पर
किया गया लेप
वरदान माना है
दाह-रोग के उपशमन में।
यह भी सुना, अनुभव भी है कि
तात्कालिक ताजे
शुद्ध-सुगन्धित घृत में
अनुपात से कपूर मिला-घुला कर
हलकी-हलकी अँगुलियों से
मस्तक के मध्य, ब्रह्म-रन्ध्र पर
और

मर्दन-कला-कुशलों से
रोगन-आदिक गुणकारी तैल

रीढ़ में मलना भी
दाह के शमन में रामबाण माना है।
बुध-सम्मत इन
उचित-उपचारों को उपेक्षित कर
माटी-कर्दम का लेप करना
बुद्धि की अल्पता है ही !

भोजन-पान के विषय में भी
ऐसा ही कुछ घट रहा है—
स्वादिष्ट-बलवर्धक दुग्ध का सेवन,
ओज-तेज-विधायक घृत का भोजन
अकाल-मरण-वारक
सात्त्विक शान्त-भाव-स्रजक
दधि निर्मित पक्वान्न आदि
बहुविध व्यंजन उपेक्षित हुए हैं,
उसी का परिणाम है कि
दाह-रोग का प्रचलन हुआ है
जिससे सेठ जी भी घिर गये हैं
और
सत्व-शून्य ज्वार के दलिया के साथ
सार-मुक्त छाछ का सेवन
दरिद्रता को निमन्त्रण देना है।

एक बात और कहना है कि
धन का मितव्यय करो, अतिव्यय नहीं
अपव्यय हो तो कभी नहीं,
भूलकर स्वप्न में भी नहीं।
और
अपव्यय तो···सर्वोत्तम !
यह जो धारणा है
वस्तु-तत्त्व को छूती नहीं,

कारण कि
यथार्थ दृष्टि से
प्रति पदार्थ में
उतना ही व्यय होता है
जितनी आय,
और
उतनी ही आय होती है
जितना व्यय।
आय और व्यय
इन दोनों के बीच
एक समय का भी अन्तर नहीं पड़ता
जिससे कि
संचय के लिए अय मिल सके।

यहाँ पर,
आय-व्यय की यही व्यवस्था
अव्यया मानी गई है,
ऐसी स्थिति में फिर भला
अतिव्यय और अपव्यय का
प्रश्न ही कहाँ रहा ?

क्या हमारे पुरुषार्थ से
वस्तु-तत्त्व में परिवर्तन आ सकता है ?
नहीं-नहीं, कभी नहीं।
हाँ,
परिवर्तन का भाव आ सकता है
हमारे कलुषित मन में।
और,
यही है संसार की जड़, अहंभाव।
इससे यही फलित हुआ कि
सिद्धान्त अपना नहीं हो सकता
सिद्धान्त को अपना सकते हम।"

अन्त-अन्त में
बिन छने तेल के कारण
भभकते दीपक की भाँति
आवेश में आकर स्वर्ण-कलश ने,
परिवार सहित सेठ को,
पीठ-पीछे वैद्य-दल को
और
ईर्ष्या-द्वेष-मात्सर्य-मद
आवेग आदि के आश्रय-भूत
माटी के कुम्भ को भी
बहुत कुछ कह सुनाया,
परन्तु उसका
इस ओर कुछ भी असर नहीं पड़ा,
सब-कुछ यथावत् पूर्ववत् ही।

वैसे,
क्रोध की क्षमता है कितनी !
क्षमा के सामने कब तक टिकेगा वह ?
जिसे सर्प काटता है
वह मर भी सकता है
और नहीं भी,
उसे जहर चढ़ भी सकता है
और नहीं भी,
किन्तु
काटने के बाद सर्प वह
मूर्च्छित अवश्य होता है।
बस,
यही दशा स्वर्ण-कलश की हुई,
उसकी छाया निकट में पड़ी
छोटी-छोटी स्वर्ण-रजत की
कलशियों पर भी पड़ रही है।

कुछ समय तक शान्त
मौन का शासन चलता रहा,
फिर सौम्य-भावों से भरे
कुम्भ ने स्वयं
स्वर्ण-कलशी से कहा
कि,

"ओरी कलशी !
कहाँ दिख रही है तू
कल··· सी ?
केवल आज कर रही है
कल की नकल-सी !
तू रही न कलशी
कल-सी !
कल-कमनीयता कहाँ है वह
तेरे गालों पर !
लगता है अधरों की वह
मधुरिम सुधा
कहीं···गई ··है निकल-सी !
अकल के अभाव में
पड़ी है काया अकेली
कला-विहीन विकल-सी
छोटी-सी ले शकल-सी
ओरी कलशी !
कहाँ दिख रही है तू
कल···सी ?"

व्यंग्यात्मक भाषा कुम्भ के मुख से सुन
अपने को उपहास का पात्र,

मूल्य-हीन, उपेक्षित देख
बदले के भाव-भरा
भीतर से जलता-घुटता स्वर्ण-कलश !

लो,
परिवार सहित सेठ को
समाप्त करने का षड्यन्त्र !
दिन और समय निश्चित होता है,
आतंकवाद को आमन्त्रित करने का।

यह बात निश्चित है कि
मान को टीस पहुँचने से ही,
आतंकवाद का अवतार होता है।
अति-पोषण या अतिशोषण का भी
यही परिणाम होता है,
तब
जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,
बदले का भाव·· प्रतिशोध !
जो कि
महा-अज्ञानता है, दूरदर्शिता का अभाव
पर के लिए नहीं,
अपने लिए भी घातक !

इस विषय में गुप-चुप
मन्त्रणा होती है स्वर्ण-कलश की
अपने सहचरों-अनुचरों से।
इस असभ्यता की गन्ध नहीं आती
परिवार के किसी सदस्य को,
सभ्यों की नासिका वह
भूखी रह सकती है, पर
भूल कर स्वप्न में भी
दुर्गन्ध की ओर जाती नहीं।

गन्धसेवी होने मात्र से
भ्रमर और मक्षिका
एक नहीं हो सकते।
सुरभि से भरे फूलों को छोड़
मल-मूत्र-श्लेष्म-मांस
आदि पदार्थों पर
भ्रमर कभी बैठता नहीं,
जहाँ पर मक्षिका फँसकर
मर जाती है मतिमन्दा।

□

आज आयेगा आतंकवाद का दल,
आपत्ति की आँधी ले आधी रात में।
और इधर,
स्वर्ण-कलश के सम्मुख
बड़ी समस्या आ खड़ी हुई, कि
अपने में ही एक और
असन्तुष्ट-दल का निर्माण हुआ है।
लिये-निर्णय को नकारा है उसने
अन्याय-असभ्यता कहा है इसे,
अपने सहयोग-समर्थन को
स्वीकृति नहीं दी है।

न्याय की वेदी पर
अन्याय का ताण्डव-नृत्य
मत करो, कहा है।
उस दल की सचालिका है —
स्फटिक की उजली झारी
वह
प्रभावित है माटी के कुम्भ से !

धीरे-धीरे
झारी की समझदारी
बहुतों को समझ में आने लगी है,
और
झारी का पक्ष
सबल होता जा रहा है, अनायास।

चन्द चमक से उछलती हुईं
चाँदी की कलश-कलशियाँ,
चालाक चालकों से छली
बड़ी-छोटी चमचियाँ,
तामसता से तने हुए
तमतमाते ताम्र-बर्तन,
राजसत्ता में राजी-रमे
पर-प्यार से पले
और भी भ्रम में पड़े
प्यासे प्याले-प्यालियाँ ··
जिन्हें,
पक्षपात का सर्प सूँघ गया,
ऐसे
लगभग सभी भाजन
स्वर्ण-पक्ष को ठुकरा कर
झारी के चरणों में झुकते हैं।

लो, अब
झारी कहती है . "हे स्वर्ण-कलश !
जो माँ-सत्ता की ओर बढ़ रहा है
समता की सीढ़ियाँ चढ़ रहा है
उसकी दृष्टि में
सोने की गिट्टी और मिट्टी
एक है
और है ऐसा ही तत्त्व !

अतः अवसर का लाभ लो
आग्रह की दृष्टि से मत देखो,
मान-यान से अब
नीचे उतर आओ तुम !
जो वर्धमान होकर मानातीत हैं
उनके पदों में प्रणिपात करो
अपार पाप-सागर से तर जाओ तुम !"

लो, झारी का प्रभाव कब पड़ना था
रौद्र-कर्मा, स्वर्ण-कलश पर !
सीता की बन्धन-मुक्ति को ले
अमन्द-मति मन्दोदरी का सम्बोधन
प्रभावक कहाँ रहा,
रावण का गारव लाघव कहाँ हुआ ?
प्रत्युत
उबलते तेल के कढ़ाव में
शीतल जल की चार-पाँच बूंदें गिरीं-सी
स्वर्ण-कलश की स्थिति हो आई।
अनियन्त्रित क्षोभ का भीषण दर्शन !
फिर,
बड़ी उत्तेजना के साथ
स्वर्ण-कलश का गर्जन !
"एक को भी नहीं छोड़ूँ,
तुम्हारे ऊपर दया की वर्षा
सम्भव नहीं अब,
प्रलय-काल का दर्शन
तुम्हें करना है अभी।"
फिर क्या पूछना !

निर्धारित समय से पूर्व ही
अनर्थ घटने की पूरी सम्भावना !

लो, इधर…
झारी ने भी माटी के
कुम्भ को संकेत दिया
और
कुम्भ ने परिवार को सचेत किया,
सब कुछ मौन, पर
गुप-चुप सक्रिय !

अड़ोस-पड़ोस की निरपराध जनता
इस चक्रवात के चक्कर मे आकर,
कहीं फँस न जाय,
इसी सदाशय के साथ
कुम्भ ने कहा सेठ से कि
"तुरन्त परिवार सहित
यहाँ से निकलना है,
विलम्ब घातक हो सकता हे।"
और,
प्रासाद के पिछले पथ से
पलायित हुआ पूरा परिवार !

किसी को भी पता नहीं पड़ा,
झारी को भी नहीं,
बताने जैसी परिस्थिति भी तो नहीं !
'विश्वस्त भले ही हुआ हो
सद्य: परिचित के कानों तक
गहरी-बात पूरी-बात
अभी नहीं पहुँचनी चाहिए'
और
सेठ के हाथ में है पथ-प्रदर्शक कुम्भ,

पीछे चल रहा है पाप-भीरु परिवार !
बीच-बीच में पीछे मुड़ते सब
पुर-गोपुर पार कर गये,
फिर लीन हो गये, घनी वनी में आ !

उत्तुंग-तम गगन चूमते
तरह-तरह के तरुवर
छत्ता ताने खड़े हैं,
श्रम-हारिणी धरती है
हरी-भरी लसती है
धरती पर छाया ने दरी बिछाई है।
फूलों-फलों पत्रों से लदे
लघु-गुरु गुल्म-गुच्छ
श्रान्त-श्लथ पथिकों को
मुस्कान-दान करते-से।
आपाद-कण्ठ पादपों से लिपटी
ललित-लतिकायें वह
लगती हैं आगतों को बुलाती-लुभाती-सी,
और
अविरल चलते पथिकों को
विश्राम लेने को कह रही हैं।
सो···पूरा परिवार अभय का श्वास लेता
जन्तु-शून्य प्रासुक धरती पर
बैठ जाता कुछ समय के लिए।

स्वेद से लथ-पथ हुआ
परिवार का तन,
खेद से हताहत हुआ
परिवार का मन,
एक साथ शान्ति का वेदन करते
शीतल पवन के परस पा कर।

युगों से वंश-परम्परा से
वंशीधर के अधरों का
प्यार-पीयूष मिला जिसे
वह बाँस-पंक्ति
माँसल बाँह-वाली
मंगल-कारक, अमंगल-वारक
तोरण-द्वार का अनुकरण करती
कुम्भ के पदों में प्रणिपात करती है
स्वयं को धन्य-तमा मानती है।
और
दृग-बिन्दुओं के मिष
हंस-परमहंसों-सी भूरि-शुभ्रा
वंश-मुक्ता की वर्षा करती है।

इसी बीच, इधर···
माँसाहारी सिंह से सताया
अभय की गवेषणा करता हुआ
भयभीत हाथियों का एक दल
यकायक
अपनी ओर आता हुआ देख
परिवार ने कहा यूँ :
'डरो मत, आओ भाई,'
और
प्रेम-भरी आँखों से बुलाया उसे।
वाह, वाह ! फिर क्या कहना !
परिवार के पदों में दल ने
अपूर्व शान्ति का श्वास लिया,
माँ के अनम्य अंक में
निःशंकता का संवेदन करते शिशु-सा।
फिर,

बाँस का उपहास करता हुआ,
वंश-मुक्ता को लाँघता हुआ,
बहुमूल्य मुक्ता-राशि चढ़ाता है,
विनीत भाव से
कुम्भ के सम्मुख !
इसी कारण शायद
यह मुक्ता ख्यात है,
गज-मुक्ता के नाम से ।

मौन के मृदु-माहौल में
परस्पर एक-दूसरे की ओर निहारते,
कुछ पल फिसलते, कि
गज-मुक्ता वंश-मुक्ता में
और
वंश-मुक्ता गज-मुक्ता में
बहुत दूर तक
अपनी-अपनी आभा पहुँचाती हैं,
चिर-बिछुड़ी आत्मीयता
परखी जा रही है इस समय ।
परन्तु,
भेद-विधायिनी
प्रतिभा वह
बिन रसना-सी रह गई,
स्व और पर का खेद
मर-सा गया है
स्व और पर का भेद
चरमरा-सा गया है,
सब कुछ निःशेष हो गया
शेष रही बस,
आभा···आभा···आभा···

□

जब श्रम टला
सब भ्रम टला
तन स्वस्थ हुआ
मन मस्त हुआ।

अभी चलना है अग्रिम पथ भी
सो · परिवार उठ चल पड़ा कि
पीछे से गरजती हुई आई
एक ध्वनि—जो
जन-दल मुख से निकली,
कानों को बहरा करती
हिंसोपजीविका आक्रामिका है।
"अरे कातरो, ठहरो !
कहाँ भागोगे, कब तक भागोगे ?
काया का राग छोड़ दो अब।
अरे पातको, ठहरो !
पाप का फल पाना है तुम्हें
धर्म का चोला पहन कर
अधर्म का धन छुपाने वालो !
सही-सही बताओ,
कितना धन लूटा तुमने
कितने जीवन टूटे तुमसे !
मन में वह सब स्मरण करो
क्षण में अब तुम मरण वरो !"
और···
परिवार ने मुड़कर देखा···तो
दिखा आतंकवाद का दल
हाथियों को भी हताहत करने का बल !
जिनके हाथों में हथियार हैं,
बार-बार आकाश में वार कर रहे हैं,
जिससे ज्वाला वह
बिजली की कौंध-सी उठती, और

आँखें मुद जातीं साधारण जनता की इधर।
जो बार-बार होठों को चबा रहे हैं,
क्रोधाविष्ट हो रहे हैं,
परिणामस्वरूप, होठों से
लहू टपक रहा है
जिनका तन गठीला है
जिनका मन हठीला है
जिनने
धोती की निचली छोरों को
ऊपर उठा कर
कसकर कटि में लपेटा है,
केसरी की कटि-सी
जिनकी कटि नहीं-सी है,
कदली तरु-सी जिनकी जंघायें—
जिनका मांस
अट्टहास कर रहा है।
यही कारण है कि
जिनके घुटने दूर से दिखते नहीं,
निगूढ़ में जा घुस रहे हैं।
मस्तक के बाल
सघन, कुटिल और कृष्ण हैं
जो स्कन्धों तक आ लटक रहे हैं
कराल-काले व्याल से लगते हैं।
जिनका विशाल वक्षस्थल है,
जिनकी पुष्ट पिंडरियों में
नसों का जाल उभरा है
धरा में वट की जड़ें-सी
जिनकी आकुल आँखें,
सूर्यकान्त मणि-सी
अग्नि को उगल रही हैं।

जिनके ललाट-तल पर
कुंकुम का त्रिकोणी तिलक लगा है,
लगता है महादेव का तीसरा नेत्र ही
खुल-कर देख रहा है।
राहु की राह पर चलनेवाला है दल
आमूल-चूल काली काया से।
क्रूर-काल को भी कँपकँपी छूटती है
जिन्हें
एक झलक लखने मात्र से!
काठियावाड़ के युवा घोड़ों की पूँछ-सी
ऊपर की ओर उठी
मानातिरेक से तनी
जिनकी काली-काली मूँछें हैं।
जिनके गठीले संपुष्ट—
बाजुओं को देखकर
प्रतापशाली भानु का बल भी
बावला बनता है।
जिन बाजुओं में
काले-धागों से कसे
निम्ब-फल बँधे हैं,
अन्त-अन्त में यूँ कहूँ कि
जिनके अंग-अंग के अन्दर
दया का अभाव ही भरा है।
मुख हृदय का अनुकरण करता है ना!

प्रायः संपुष्ट शरीर
दया के दमन से ही बनते हैं,
तभी तो सन्तों की ये पंक्तियाँ कहती हैं :
"अरे देहिन्!
द्युति-दीप्त-संपुष्ट देह

जीवन का ध्येय नहीं है,
देह-नेह करने से ही
आज तक तुझे
विदेह-पद उपलब्ध नहीं हुआ।
दयाहीन दुष्टों का
दयालीन शिष्टों पर
आक्रमण होता देख—
तरवारों का वार दुर्वार है
इस वार से परिवार को बचाना भी
अनिवार्य है, आर्यों का आद्य कार्य"—
यूँ सोचता हुआ गज-दल
परिवार को बीच में करता हुआ
चारों ओर से घेर कर खड़ा हुआ।

□

गजगण की गर्जना से
गगनांगन गूँज उठा,
धरती की धृति हिल उठी,
पर्वत-श्रेणी परिसर को भी
परिश्रम का अनुभव हुआ,
निःसंग उड़नेवाले पंछी
दिग्भ्रमित भयातुर हो,
दूसरों के घोंसलों में जा घुसे,
अजगरों की गाढ़ निद्रा
झट-सी टूट गई,
जाग्रतों को ज्वर चढ़ गया,
मृग-समाज मार्ग भूलकर
मृगराज के सम्मुख जा रुका,
बड़ी बड़ी बांबियाँ तो···

शूल बनकर
भू-पर गिर पड़ीं,
और
क्रूर विषधर विष उगलते
फूत्कार करते बाहर निकलते,
जिन की आँखों में रोष
ताण्डवनृत्य कर रहा है,
फण ऊपर उठा-उठा
पूँछ के बल खड़े हो
निहार रहे हैं बाधक तत्त्व को!

तत्काल विदित हुआ विषधरों को
विप्लव का मूल कारण।
परिवार निर्दोष पाया गया
जो
इष्ट के स्मरण में लगा हुआ है,
गजदल सरोष पाया गया
जो
शिष्ट के रक्षण में लगा हुआ है,
और
अवशिष्ट दल पारिशेष्य-न्याय से
सदोष पाया गया
जो
सब के भक्षण में लगा हुआ है।

फिर क्या पूछना!
प्रधान सर्प ने कहा सब से कि
"किसी को काटना नहीं,
किसी का प्राणान्त नहीं करना
मात्र शत्रु को शह देना है।
उद्दण्डता दूर करने हेतु
दण्ड-संहिता होती है

माना,
दण्डों में अन्तिम दण्ड
प्राणदण्ड होता है।
प्राणदण्ड से
औरों को तो शिक्षा मिलती है,
परन्तु
जिसे दण्ड दिया जा रहा है
उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।
दण्डसंहिता इसको माने या न माने,
क्रूर अपराधी को
क्रूरता से दण्डित करना भी
एक अपराध है,
न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।"

□

अब
चारों ओर से घिर गया आतंकवाद।
जहाँ देखो वहाँ...सर्वत्र
अनगिन नाग-नागिन—
कहीं पाताल से नागेन्द्र ही
परिवार सहित आया हो भू-पर
पतित पददलितों का पक्ष लेने।
यह प्रथम घटना है कि
आतंकवाद ही
स्वयं आतंकित हुआ,
पीछे हटने की स्थिति में है वह,
काला तो पहले से ही था वह
काल को सम्मुख देख कर
और काला हुआ उसका मुख !

आतंकवाद का बल
शनैः-शनैः निष्क्रिय होता जा रहा है।
दल-दल में फँसा
बलशाली गज-सम !
धरती को चीरती जाती
ढलान में लुढ़कती नदी
पर्वत से कब बोलती है ?
बस
यही स्थिति है आतंकवाद की
और
वनी-वनी जा छुप गया वह।

"संहार की बात मत करो,
संघर्ष करते जाओ !
हार की बात मत करो,
उत्कर्ष करते जाओ !

और ···सुनो !
घातक-घायल डाल पर
रसाल-फल लगता नहीं,
लग भी जाय
पकता नहीं,
और
काल पाकर
पक भी जाय तो···
भोक्ता को स्वाद नहीं आयेगा
उस रसाल का !
विकृत-परिसर जो रहा !"
यूँ कहता हुआ, सर्प-समाज में से
एक युगल नाग और नागिन,
'हमें नाग और नागिन
ना गिन, हे वरभागिन् !

युगों-युगों का इतिहास
इस बात का साक्षी है कि
इस वंश-परम्परा ने
आज तक किसी कारणवश
किसी जीवन पर भी
पद नहीं रखा, कुचला नहीं…
अपद जो रहे हम !
यही कारण है कि सन्तों ने
बहुत सोच-समझ कर
हमारा सार्थक नामकरण किया है
'उरग'।
हाँ ! हाँ !
हम पर कोई पद रखते
हमें छेड़ते…तो…
हम छोड़ते नहीं उन्हें।
जघन्य स्वार्थसिद्धि के लिए
किसी को पद-दलित नहीं किया हमने,
प्रत्युत, जो
पद-दलित हुए हैं
किसी भाँति,
उर से सरकते-सरकते
उन तक पहुँच कर
उन्हें उर से चिपकाया है,
प्रेम से उन्हें पुचकारा है,
उनके घावों को सहलाया है।

अपनी ममता-मृदुता से
कण-कण की कथा सनी है,
अणु-अणु की व्यथा हनी है।

काँटों को भी नहीं काटा हमने
काँटों को भी मृदु आलिंगन दिये हैं,
क्योंकि वह शोषित हैं।
डाल-डाल में भरे
रस-पराग को चूसा फूल ने
यश को भी लूटा फूल ने
फल यह निकला कि
सूख-सूख कर शेष सब
काँटे जो रह गये !

एक बात और कहनी है हमें
कि
पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु
पर को पद-दलित करते हैं,
पाप-पाखण्ड करते हैं।
प्रभु से प्रार्थना है कि
अपद ही बने रहें हम !
जितने भी पद हैं
वह विपदाओं के आस्पद हैं,
पद-लिप्सा का विषधर वह
भविष्य मे भी हमें न सूंघ
बस यही भावना है, विभो !"

अपदों के मुख से
पदों की, पदवालों की
परिणति-पद्धति सुन कर
परिवार स्तम्भित हुआ।
चतुष्पदी गज-यूथ भी
स्पन्दन-शून्य हुआ यन्त्रवत्,
और
सब के पद हिम-सम जम गये।

सपरिवार गज-समाज को
उदासी में डूबा देख
आपे में आ सर्पों ने कहा :
"क्षमा करें ! क्षमा करें !
क्षमा चाहते हम !

वैसे,
दो टूक बोलते नहीं हम
भूल-चूक की बात निराली है,
पूरा आशय प्रकट नहीं हो सका ।
शेष सुन लो, सुनाते हम
टूटे-फूटे शब्दों में कि
जितने भी पद-वाले होते हैं
और जो
प्रजापाल आदिक
प्रामाणिक पदों पर आसीन कराये गये हैं,
वे सब ऐसे ही होते हैं
ऐसी बात नहीं है ।

कुछ पद ऐसे भी होते हैं
जिन की पूजा के लिए
यह जीवन तरस रहा था
सुचिर काल से…कब से
आज घड़ी आ गई वह
हरस रहा है हृदय यह,"
और सर्वप्रथम
हर्षाश्रु-पूरित लोचनों से
पूज्य-पदों का अभिषेक हुआ
शत-शत प्रणिपात के साथ ।

फिर, नाग और नागिन की
फणायें पूरी खुलीं

सादर उठ खड़ी हुईं
जिनमें सुरक्षित निहित
सब मणियों में मंजुल
मौलिक अनम्य दुर्लभ
शान्त-सौम्य द्युति-वाली
मणियों का अर्पण हुआ।
और
धन्य-धन्यतम माना जीवन को
सर्प-समाज ने।
सर्पों का नमन हुआ
दर्पों का वमन हुआ
बाहर मार-पीट का दर्शन
भीतर प्यार-मीत चलता रहा।

मृदुता का मोहक स्पर्शन
यह एक ऐसा
मौलिक और अलौकिक
अमूर्त-दर्शक काव्य का
श्रव्य का सृजन हुआ,
इसका सृजक कौन है वह,
कहाँ है,
क्यों मौन है वह ?
लाघव-भाव वाला नरपुंगव,
नरपों का चरण हुआ !

❑

वहीं से लपक-लपक कर
बार-बार आतंकवाद
झाड़ियों से झाँकता रहा
और
आशातीत इस घटना को

निहारता रहा निन्दा की नियति से ।
एक बार और
उसका डर भर उठा है
उदिग्नता से—उत्पीड़न से
और
पराभव से उत्पन्न हुई
उच्छृंखल उष्णता से ।

इस के सिवा
और क्या कर सकता है
सबलों के सम्मुख बलहीन वह मुख !

और
साधित मन्त्रों से मन्त्रित होते हैं
सात नींबू !
प्रति नीबू में
आर-पार हुई है सूई
काली डोर बँधी है जिन पर ।
फिर,
फल उछाल दिये जाते हैं
शून्य आकाश में
काली मेघ-घटाओं की कामना के साथ ।
मन्त्र-प्रयोग के बाद
प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं रहती
हाथों-हाथ फल सामने आता है
यह एकाग्रता का परिणाम है ।

मन्त्र-प्रयोग करने वाला
सदाशयी हो या दुराशयी
इसमें कोई नियम नहीं है ।
नियन्त्रित-मना हो बस !
यही नियम है, यही नियोग,
और यही हुआ ।

घनी-घनी घटायें मेघों की
गगनांगन में तैरने लगीं
छा-सा गया तामसता का साम्राज्य
धरती का दर्शन दुर्लभ हुआ
धरती जीवित है या नहीं
मात्र पैर ही जान सकते हैं,
रव-रव नरक की रात्रि
यात्रा करती आई हो ऊपर
वर्ण-विचित्रता का विलय हो रहा
प्रारम्भ हुआ प्रचण्ड पवन का प्रवाह
जिसकी मुट्ठी में प्रलय छिपा है।
पर्वतों के पद लड़खड़ाये
और
पर्वतों की पगड़ियाँ
धरा पर गिर पड़ीं,
वृक्षों में परस्पर संघर्ष छिड़ा
कस-कसाहट आहट,
स्पर्श्य का ही नहीं
अस्पर्श्य का भी स्पर्शन होने लगा,
मृदु-कठोर का भेद नहीं रहा
गुरुतर तरुओं की जड़ें हिल गईं,
कई वृक्ष शीर्षासन सीखने लगे
बांस दण्डवत् करने लगे
धरा की छाती से चिपकने लगे।

कर्णकटुक अश्राव्य
मेघों का गुरु-गर्जन
इतना भीषण होने लगा कि
हर्षोल्लास नर्तन तो दूर
मयूर-समूह का वह

कूक भी मूक हो गया,
मेघों को क्रोधित मदोन्मत्त
करनेवाली बीच-बीच में
बिजली कौंधने लगी
मान-मर्यादा से उन्मुक्त
चपला अबला-सी !
और
मूसलाधार वर्षा होने लगी।
छोटी-बड़ी बूंदों की बात नहीं,
जलप्रपात-सम अनुभवन है यह
धरती डूबी जा रही है जल में
जलीय सत्ता का प्रकोप
चारों ओर घटाटोप है।
दिवस का अवसान कब हुआ
पता नहीं चल सका,
तमस का आना कब हुआ
कौन बताये ! किसे पूछें ?

और
बादलों का घुमड़न घुटता रहा
बिजली का उमड़न चलता रहा
रुक-रुक कर
ओला-वृष्टि होती गई
शीत-लहर चलती गई
प्रहर-प्रहर ढलते गये
ऐसी स्थिति में फिर भला
निद्रा ओ ! आती कैसे
और किसे इष्ट होगी वह ?

कलानुभूति—भोग और उपभोग के लिए
काल और क्षेत्र की

अनुकूलता भी अपेक्षित है
केवल भोग-सामग्री ही नहीं।

□

इस भीषण प्रलयकालीन स्थिति में भी
परिवार का परिरक्षण
अविकल चलता रहा,
गुणग्राही गज-गण से।

'बादल दल छँट गये हैं
काजल-पल कट गये हैं
वरना, लाली क्यों फूटी है
सुदूर ··प्राची में !
और
परिवार जा खड़ा है नदी-तट पर।

वर्षा के कारण नदी में
नया नीर आया है
नदी वेग-आवेगवती हुई है
संवेग-निर्वेग से दूर
उन्मादवाली प्रमदा-सी !
परिवार के सम्मुख अब
गम्भीर समस्या आ खड़ी है,
धीरे-धीरे
उसकी गम्भीरता-गुरुता
भीरुता से घिरती जा रही है।
और···लो !
परिवार का मन कह उठा, कि
चलो ! लौट चलें यहाँ से।
लौटने का उद्यम हुआ, कि

कुम्भ का कहना हुआ :
"नहीं···नहीं···नहीं···
लौटना नहीं !
अभी नहीं···कभी भी नहीं ··
क्योंकि अभी
आतंकवाद गया नहीं,
उससे संघर्ष करना है अभी
वह कृत-संकल्प है
अपने ध्रुव पर दृढ़।

जब तक जीवित है आतंकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,
ये आँखें अब
आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
ये कान अब
आतंक का नाम सुन नहीं सकते,
यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि
उसका रहे या इसका
यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा,
अब विलम्ब का स्वागत मत करो
नदी को पार करना ही है
कुम्भ के भाग में क्या
विकलता-शून्यता लिखी है
कुम्भ के त्याग में क्या
विकलता न्यूनता रही है ?
शिथिल विश्वास को
शुद्ध श्वास मिलेगा
और
पंकिल श्वास को
समृद्ध वास मिलेगा

भय-विस्मय-संकोच को
आश्रय मत दो अब !

रस्सी के एक छोर को
मेरे गले में बाँध दो
और
कुछ-कुछ अन्तर छोड़ कर
पीछे-पीछे परस्पर
पंक्ति-बद्ध हो सब तुम
अपनी-अपनी कटि में
कस कर रस्सी बाँध लो !
फिर
ऊँकार के उच्च उच्चारण के साथ
कूद जाओ धार में।"

इस पर भी
परिवार का संकोच दूर नहीं होने से,
कुम्भ के मुख से कुछ पंक्तियाँ
और निकलती हैं कि—

"यहाँ
बन्धन रुचता किसे ?
मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता
तभी···तो· ·
किसी के भी बन्धन में
बँधना नहीं चाहता मैं,
न ही किसी को
बाँधना चाहता हूँ।
जानते हम,
बाँधना भी तो बन्धन है !
तथापि
स्वच्छन्दता से स्वयं

बचना चाहता हूँ
बचता हूँ यथा-शक्य
और
बचना चाहे हो, न हो
बचाना चाहता हूँ औरों को
बचाता हूँ यथा-शक्य ।
यहाँ
बन्धन रुचता किसे ?
मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता ।

लो, अब की बार
लवणभास्कर चूरण-सी
पंक्तियाँ काम कर गईं,
और
कुम्भ के संकेतानुसार
सिंह-कटि-सी अपनी
पतली कटि में कुम्भ को बाँध कर
कूद पड़ा सेठ
नदी की तेज धार में ।
तुरन्त परिवार ने भी
उसका अनुकरण किया,
धरती का सहारा छूट गया
पद निराधार हो गये
कटि में बँधी रस्सी ही
त्राण है, प्राण है, इस समय !
और कुम्भ ··
महायान का कार्य कर रहा है
सब-का-सब जल-मग्न हो गया है
मात्र दिख रहे ऊपर
मुख-मस्तक ।

अन्तिम-शीत अनुभूत हुआ
परिवार को इस समय।

काया की प्राकृत ऊष्मा
खोती जा रही है
रक्त की गतिशीलता
विरक्त होती जा रही है
हस्त-पाद निष्क्रिय हो गये
दन्त-पंक्तियाँ कटकटाने लगी
और कुछ
नदी में भीतर आना हुआ कि
छोटी-बड़ी मछलियाँ
जल से ऊपर उछलतीं
सलील क्रीड़ा कर रही हैं,
कुटिल विचरण वाले
विषधरों की पतली-पतली पूँछे
अनायास लिपटने लगी
परिवार की वर्तुली पिंडरियों से।

सकोच-शील
कई कछुवे भी स्वच्छन्द हो
परिवार की मृदुल-मांसल
जंघायें छू-छू कर
छूमन्तर होने लगेंगे

जिनके
व्याघ्र-सम भयानक जबड़ों में
बड़ी-बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी
तीखी दन्त-पंक्तियाँ चमक रही हैं,
जिनकी रक्त-लोलुपी लाल रसना
बार-बार बाहर लपक रही है,

विषाक्त-कंटक वाली
ऊपर उठी पूँछ है जिनकी
ऐसे मांस-भक्षी
महा-मगरमच्छ
भोजन-गवेषणा में रत
परिवार के आस-पास
सिर उठाने लगे हैं।

और भी अन्य क्रूरवृत्ति वाले
विविध जातीय जलीय जन्तु
क्षुब्ध दिख रहे क्षुधा के कारण,
तथापि
परिवार की शान्त मुद्रा देख
क्षोभ का नूतन प्रयोग करना
जो मूल-धर्म है उनका
भूल से गये हैं,
उनकी वृत्ति में आमूल-चूल
परिवर्तन-सा आ गया है,
भोजन का प्रयोजन ही छूट गया।

और जैसे
भगवान् को देखते ही
भक्त के मन में भजन का भाव
फूट गया है
हेय-उपादेय का बोध,
क्षीर-नीर-विवेक,
कर्तव्य की ओर मुड़न
यूँ भाँति-भाँति से जागृति आ गई
जलचरों के जीवन में।

□

परन्तु !
जल में उलटी क्रान्ति आ गई
जड़ और जंगम दो तत्त्व हैं
दोनों की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं—
जंगम को प्रकाश मिलते ही
यथोचित गति मिलते ही
विकास ही कर जाता है वह
जब कि
जड़ ज्यों-का-त्यों रह जाता।
जड़ अज्ञानी होता है
एकान्ती हठी होता है
कूटस्थ होता है…त्रस्त !
स्वस्थ नहीं हो सकता वह।
जलचरों की प्रवृत्ति से
उलटी-पलटी वृत्ति से
जल से भरी उफनती नदी
और जलती हुई कहती है, कि

"मेरे आश्रित होकर भी
मेरे से प्रतिकूल जाते हो !
जीवन जीना चाहते हो
संजीवन पीना चाहते हो
और
निर्बल बालक होकर भी
माता को भूल जाते हो !
जाओ ! जाओ ! दुःख पाओगे,
पाओगे नहीं मृदु प्यार कहीं,
पीओगे पश्चात्ताप की घूँट ही
पीयूष की स्मृति जलायेगी तुम्हें !

भूचरों से मिले हुए हो
धूर्त खलों से छले हुए हो

तुमसे कुछ भी नहीं कहना है
तुम पर दया आती है;
उनको ही देखना है
जो··
निश्छलों से छल करते हैं
जल-देवता से भी जला करते हैं।"
और
अनगिन तरंग-करों से
परिवार के कोमल कपोलों पर
तमाचा मारना प्रारम्भ करती है
कुपित पित्तवती···नदी !

"धरती के आराधक धूर्तो,
कहाँ जाओगे अब ?
जाओ, धरती में जा छुप जाओ···
उससे भी···नीचे !
पातको, पाताल में जाओ !
पाखण्ड-प्रमुखो !
मुख मत दिखाओ हमें।
दिखावा जीवन है तुम्हारा
काल-भक्षी होता है,
लक्ष्यहीन दीन-दरिद्र
व्याल-पक्षी होता है
धरती-सम एक स्थान पर
रह-रह कर
पर को और परधन को
अपने अधीन किया है तुमने,
ग्रहण-संग्रहण रूप
संग्रहणी-रोग से ग्रसित हो तुम !
इसीलिए क्षण-भर भी
कहीं रुकती नहीं मैं

पर-सम्पदायें मिलने पर भी
उन को मैंने स्वप्न में भी
                ना ली।
और
अपनी उदारता दिखाने
किसी स्वार्थ या यश लोकैषणावश
दूसरों को उन्हें न दी
तभी···तो ··हमें
सन्तों ने सार्थक संज्ञा दी—
        ···नाली !···नदी !

हमसे विपरीत चाल चलनेवाले
दीन होते हैं।
कुछ शिथिलाचारी साधुओं को
'बहता पानी और रमता जोगी'
इस सूक्ति के माध्यम से
सही दिशा-बोध मिला है
इससे बढ़कर भला
और कौन-सा वह
आदर्श हो सकता है संसार में !
इस आदर्श में अब
अपना मुख देख लो
और
पहचान लो अपने रूप-स्वरूप को !"
□

उच्छृंखला जडाशया
अपनी ही प्रशंसा में डूबी—
नदी की बातें सुन
उत्तेजित हुए बिना

सेठ का कुछ कहना हुआ, कि :
"यदि तुम्हें
धरा का आधार नहीं मिलता
तुम्हारी गति कौन-सी होती !
पाताल को भी पार कर जातीं तुम !
धरती ने तुम्हें स्वीकारा
छाती से चिपकाया है तुम्हें
देवों ने तुम पर दया नहीं की,
आकाश ने शरण नहीं दी तुम्हें,
तुम छोटी थी तब
गिरि की चोटी पर गिरी थी
सब हँसे थे
तुम रोयी थी तब !
चोट लगी थी घनी तुम्हें,
तरला-सरला-सी लगती थी
गरला-कुटिला बन गई अब !
छल ही बल बन गया है तुम्हारा,
सरपट भाग रही हो अब
सब को लाँघती-लाँघती।
अरी कृतघ्ने ! पाप-सम्पादिके !
और अधिक पापार्जन मत कर।
सारा संसार ही ऋणी है धरणी का
तुम्हें भी ऋण चुकाना है
धरणी को उर में धारण कर,
करनी को हृदय से सुधारना है।"

हाय रे यह दुर्भाग्य किसका !
सेठ का या नदी का ?
सेठ का सदाशय सफल जो नहीं हुआ
सेठ की समालोचना से भी

नदी के लोचन नहीं खुले
प्रत्युत, वह नदी
और लोहित हो उठी :
अरे दुष्टो !
मेरे लिए पाताल की बात करते हो !
अब तुम्हारा अन्त दूर नहीं।
और
भँवरदार दिशा की ओर गति
सब ओर से आकृष्ट हो,
आ, आ कर
जहाँ पर सब कुछ लुप्त होता है,
जहाँ पर
स्वयं को परिक्रमा देता
उपरिल जल नीचे की ओर
निचला जल ऊपर की ओर
अति-तीव्र गति से
जा रहा है, आ रहा है,
जहाँ का जलतत्त्व
भू-तत्त्व को अपने में समाहित कर
अट्टहास कर रहा है;

जहाँ पर
कुछ पशु, कुछ मृग
कुछ अहिंसक, कुछ हिंसक
कुछ मूच्छित, कुछ जागृत
कुछ मृतक, कुछ अर्द्ध-मृतक
अकाल में काल के कवल होने से
सब के मुखों पर
जिजीविषा बिखरी पड़ी है,
सब के सब विवश हो
बहाव में बहे जा रहे हैं।

देखते-देखते सामने से ही
एक विशालकाय हाथी
बहता-बहता आया
जिसकी पीठ पर बैठा है
एक प्रौढ़ सिंह
भीषण भविष्य से भयभीत !
और
भँवर में फँसकर
एक-दो बार भ्रमता
भँवर के उदर में तिरोहित हुआ,
सबल हो या निर्बल
जहाँ पर
किसी का बल काम नहीं कर रहा है
सब बलों का बलिदान !

□

घटती घटना को देखकर
परिवार का धैर्य कहीं
घट न जाय,
और
उसका मन कहीं
ध्रुव से हट न जाय,
यूँ सोच में पड़े
कुम्भ ने नदी को ललकारा :
"अरी पाप-पाँव वाली, सुन !
यह परिवार तो पार पर है
मझधार में नहीं,
जिसने धरती की शरण ली है
धरती पार उतारती है उसे
यह धरती का नियम है···व्रत !

धरती शब्द का भी भाव
विलोम रूप से यही निकलता है—
ध···र·· ती ती·· र···ध
यानी,
जो तीर को धारण करती है
या शरणागत को
तीर पर धरती है
वही धरती कहलाती है।

और सुनो!
'ध' के स्थान पर
'थ' के प्रयोग से
तीरथ बनता है
शरणागत को तारे सो ··तीरथ!

फिर भला अब हमें
कैसे डुबो सकती हो तुम!
और यह भी ध्यान रहे कि
अब हमें
बहा न सकोगी तुम
किसी बहाने बहाव में
बह न सकेंगे हम!

अब आग की नदी को
पार कर आये हम
और
साधना की सीमा-श्री से
हार कर नहीं,
प्यार कर, आये हम
फिर भी हमें डुबोने की
क्षमता रखती हो तुम?

हमने पहले ही तय किया था, कि
सतह की सेवा-प्रशंसा
अधिक नहीं करना है
क्योंकि
सतह पर
कब तक तैरते रहेंगे,
हाथ भर आयेंगे ही !
लहरों के दर्शन-मात्र से
सन्तुष्ट होने वाले
प्राय: डूबते दिखे हैं।
···यहाँ पर···सतह पर !

अरी निम्नगे निम्न - अघे !
इस गागर में सागर को भी
धारण करने की क्षमता है
धरणी के अंश जो रहे हम !
कुम्भ की अर्थ-क्रिया
जल-धारण ही तो है
और···सुनो !
स्वयं धरणी शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है कि
ध···र···णी नी·· र···ध
नीर को धारण करे···सो···धरणी
नीर का पालन करे सो · धरणी !

□

जैसे
मणियों में नील-मणि
कमलों में नील-कमल
सुखों में शील-सुख

गिरियों में मेरु-गिरि
सागरों में क्षीर-सागर
मरणों में वीर-मरण
मुक्ताओं में मत्स्य-मुक्ता
उत्तम माने जाते हैं,
वैसे
गुणों में गुण कृतज्ञता है,
जिस कृतज्ञता से सुशोभित
कुम्भ को देख कर
एक महामत्स्य मुदित हो
बहुमूल्य मुक्ता-मणि
प्रदान करता है कुम्भ को।
'यह तुच्छ सेवा स्वीकृत हो स्वामिन् !'
कह कर जल में लीन होता है वह।
इस मुक्ता की बड़ी विशेषता है कि
जिस सज्जन को यह मिलती है
वह अगाध जल में भी
अबाध पथ पा जाता है
और यही हुआ तुरन्त !

भंवरदार धार को भी
अनायास पार करता हुआ
परिवार-सहित कुम्भ
मन्द मुस्कान के साथ
एक सूक्ति की स्मृति
दिलाता है सेठ को, कि
'बिन माँगे मोती मिले
माँगे मिले न भीख'
और यह फल
त्याग-तपस्या का है सेठ जी !
कुम्भ के आत्म-विश्वास से

साहस-पूर्ण जीवन से
नदी को बड़ी प्रेरणा मिल गई
नदी की व्यग्रता प्रायः अस्त हुई
समर्पण-भाव से भर आई वह !

और
नम्र-विनीत हो कहने लगा :
उद्दण्डता के लिए क्षमा चाहती हूँ ।
और
तरल-तरंगों से रहित
धीर गम्भीर हो बहने लगी,
हाव-भावों-विभावों से मुक्त
गत-वयना नत-नयना
चिर-दीक्षिता आर्या-सी !

□

लगभग यात्रा आधी हो चुकी है
यात्री-मण्डल को लग रहा है कि
गन्तव्य ही अपनी ओर आ रहा है।
कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है
प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण
परिश्रमी विनयशील
विलक्षण विद्यार्थी-सम ।
परिवार भी फूल रहा है कि

पुनरावृत्ति आतंक की—
वही रंग है वही ढंग है
अंग-अंग में वही व्यंग्य है,
वही मूर्ति है वही मुखड़े
वही अमूर्च्छित-तनी मूँछें
वही चाल है वही ढाल है

वही छल-बल वही उछाल है
क्रूर काल का वही भाल है
वही नशा है वही दशा है
कांप रही अब दिशा-दिशा है
वही रसना है वही वसना है
किसी के भी रही वश ना है
सुनी हुई जो वही ध्वनि है
वही वही सुन ! वही धुन है ।

वही श्वास है अविश्वास है
वही नाश है अट्टहास है
वही ताण्डव-नृत्य है
वही दानव-कृत्य है
वही आँखें हैं सिंदूरी हैं
भूरि-भूरि जो घूर रही हैं
वही गात है वही माथ है
वही पाद है वही हाथ है
घात-घात में वही साथ है,
गाल वही है अधर वही है
लाल वही है रुधिर वही है
भाव वही है डाँव वही है
सब कुछ वही नया कुछ नहीं
जिया वही है दया कुछ नहीं ।

और प्रारम्भ होती है नदी से
आतंकवाद की प्रार्थना :
"ओ माँ ! जलदेवता !
हमें यह दे बता
अपराधी को भी क्या—

पार लगाती है ?
पुण्यात्मा का पालन-पोषण
उचित है···कर्तव्य है,
परन्तु क्या पापियों से भी
प्यार करती है ?

यदि नहीं
तो · इन्हें···डुबो दे—
जो कुम्भ का सहारा ले
धरती की प्रशंसा करते हैं
उस पार उतरना चाहते हैं !
इनके पाप का कोई पार नहीं,
इनका पुण्य से कोई प्यार नहीं
इनकी प्रिय वस्तु है
धन-वैभव-विषय-सम्पदायें।
फिर भी···इन्हें सहयोग दोगी
तुम्हारे उज्ज्वल इतिहास का
उपहास होगा
ह्रास होगा विश्वास का
फिर औरों की क्या बात,
सब के जीवन पर
प्रश्न-चिह्न लगेगा ही।

वैसे
संताप ताप-शील वाली
जलती, और जो
औरों को जलाती है
अग्नि-देवता को भी
काष्ठ में कीलित किया है तुमने।

फिर, कभी-कभी उसे
दावा के रूप में लपलपाती प्रकट होती देख
अपने अजेय-बल से
अग्नि को लावा का रूप दे
उसे पाताल तक पहुँचाया है।

और
अभी भी उस पर
शासन चल रहा है तुम्हारा !
फिर भला,
आज तुम्हें यह क्या हुआ है ?
हे माँ ! जलदेवता !
हमें दे बता।
हमें क्या पता,
इतना परिवर्तन तुममें हुआ है !"

इस पर नदी कहती है अब,
कि
"जिन्हें डुबोने के लिए कहते हो
उनके अभाव में यहाँ
अभाव के सिवा, बस
शेष कुछ भी नहीं मिलेगा।
तरवार के अभाव में
म्यान का मूल्य ही क्या ?
भोक्ता के अभाव में
भोग-सामग्री से क्या ?
जो कुछ है धरती की शोभा
इन से ही है
और, इन जैसे सेवाकार्य-रतों से।

मूल के अभाव में
चूल की गति क्या होगी

धूल के अभाव में
फूल की गति क्या होगी
बताने की आवश्यकता नहीं,

अब
बल का दुरुपयोग नहीं होगा
समर्पण हो चुका है
ऊर्ध्वा उपासना में उलट चुकी है
उर में उदारता उग चुकी है"
और
'इत्यलं' कहती हुई
मौन लेती है नदी।

❏

नदी की मौन गम्भीरता से
आतंकवाद की धीरता में
पीड़ा-उदासी नहीं आई।
कुछ क्षण···स्तब्धता फिर!
वही···ध्रुव की···ओर
सरोष सक्रियता···

और,
यह सही नीति है कि
रणांगन में कूदने के बाद
मित्र-बल की स्मृति नहीं होती
प्रत्युत, शत्रु-बल पर
टूट पड़ना ही होता है।
पराश्रय लेना दीनता का प्रतीक है
वीर-रस को क्षति पहुँचती है इससे;
इतना ही नहीं,
मित्रों से मिली मदद
यथार्थ में मद-द होती है

जो विजय के पथ में बाधक
अन्धकार का कार्य करती है

अब, आतंकवाद को
लगभग लगने लगी
सफलता हाथ को छूती हुई-सी
मृग-मरीचिका नहीं
धोखा नहीं !
भाग्य साथ देता हुआ-सा।

और
मौके का मूल्यांकन हुआ
नौका को और गति मिली
पवन का झोंका भर
प्रतिकूल न हो, बस
यही एक भावना ले।

आखिर आतंकवाद भा
मार्गविरोधी बन कर
परिवार के सम्मुख खड़ा हो
कहकहाहट के साथ कहता है :

"अब पार का विकल्प त्याग दो
त्याग-पत्र दो जीवन को
पाताल का परिचय पाना है तुम्हें
पाखण्ड - पाप का यही पाक होता है"
और
अंधाधुन्ध पत्थरों की वर्षा
परिवार के ऊपर होने लगी।

"स्वागत मेरा हो
मनमोहक विलासितायें
मुझे मिलें अच्छी वस्तुएँ—

ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी,
फिर भला बता दो हमें,
आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?
सबसे आगे मैं
समाज बाद में !

अरे कम-से-कम
शब्दार्थ की ओर तो देखो !
समाज का अर्थ होता है समूह
और
समूह यानी
सम—समीचीन ऊह—विचार है
जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि
प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालों का
जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से
समाजवादी नहीं बनोगे।"

ऐसे असभ्य शब्दों का प्रयोग
किया जा रहा कि
जिसके सुनते ही
क्रोधाग्नि भभक उठती हो,
और
मान तिलमिला जाता हो
पत्थरों की मार से
घनी चोट लगने से
सब के सिर फिर-से गये हैं
रक्त की धारा बह उठी है

जिस धारा से
धारा भी लाल-सी हो गई है—
एक विचार की दो सखियाँ
आतंकवाद पर रुष्ट हुईं-सीं।
सेठ जी के सिवा
पूरा परिवार परवश हो
पीड़ा का अनुभव कर रहा है।
□

आचरण के सामने आते ही
प्रायः चरण थम जाते हैं
और
आवरण के सामने आते ही
प्रायः नयन नम जाते हैं,

यह देही मतिमन्द
कभी-कभी
रस्सी को सर्प समझकर
विषयों में लीन होता है… तो…कभी
सर्प को रस्सी समझ कर
विषयों में लीन होता है।
यह सब मोह की महिमा है
इस महिमा का अन्त
तब तक हो नहीं सकता
स्वभाव की अनभिज्ञता
जीवित रहेगी जब तक।

हाँ ! हाँ ! ऐसी स्थिति में भी
धैर्य-साहस के साथ
सब से आगे हो
सेठ का संघर्ष चल ही रहा है आतंक से।

कुम्भ की सुरक्षा हेतु
कुम्भ को अपने पेट के नीचे ले
नीचे मुख कर लेटा है
स्व-वश हो सह रहा है
दुःसह कर्म-फल,
वन की घटना-स्मृति के कारण !

सात-आठ हाथ दूर से ही
उपसर्ग यह चलता रहा
निर्दयता के साथ।
जिसके बल पर पार पाना है,
कुम्भ को फोड़ने का प्रयास
कई बार विफल हुआ
जिसके बल पर
प्राणों को त्राण मिला है,
कटि में कसी रस्सी को
शस्त्रों से काटने का प्रयास
एक बार भी सफल नहीं हुआ,
आग की नदी को पार करनेवाले
कुम्भ की कठिन तपस्या देख
कहीं जलदेवता ने ही
विक्रिया के बल पर
परिवार के चारों ओर
रक्षा-मण्डल भामण्डल की रचना की हो !
या
यह चमत्कार
मत्स्य-मुक्ता का भी हो सकता है।

कुछ भी हो,
अब आतंकवाद को
स्व-पक्ष की पराजय

निकट लगने लगी,
साथ ही साथ
उसके मन में पर-पक्ष का
सदाशय भी प्रकटने लगा।

फलस्वरूप
उसके तन की शक्ति वह
कुम्भ-सहित परिवार को
अदेखा-भाव से देखने लगी,
उसके मनकी शक्ति वह
अपने आप को
क्रोधानल से सेंकने लगी,
और
उसकी वचन-शक्ति तो…
पूरे माहौल के सामने
अपने घुटने टेकने लगी,

परन्तु
उसकी वंचन-शक्ति
अभी मिटी नहीं है
ज्यों-की-त्यों बलवती
वही पुरानी टेक लगी है
तभी…तो…
आतंकवाद अपने हाथों में
एक ऐसा जाल ले
जिसमें बड़ी-बड़ी मछलियाँ
अनायास फँस सकती हैं
परिवार के ऊपर फेंकने को है, कि
धरती के उपासक
पवन से यह देखा नहीं गया
और

और क्या ?···
प्रलय का रूप धरता है पवन,
कोप बढा, पारा चढ़ा
चक्री का बल भी जिसे देखकर
चक्कर खा जाय बस,
ऐसा चक्रवात है यह !
एक ही झटके में झट से
दल के करों से जाल को
सुदूर शून्य में फेंक दिया,
सो···ऐसा प्रतीत हुआ कि
आकाश के स्वच्छ सागर में
स्वच्छन्द तैरने वाले
प्रभापुंज प्रभाकर को ही
पकड़ने का प्रयास चल रहा है
और
लगे इस झटके से
दल के पैर निराधार हो गये,
कई गोलाटे लेते हुए
नाव में ही सिर के बल
चक्कर खा गिर गया दल,
अन्धकार छा गया उसके सामने
नेत्र बन्द हो गये
हृदय-स्पन्दन मन्द पड़ गया,
रक्त-गति में अन्तर आने से
मूर्च्छा आ गई।
परन्तु, दल की मूँछें तो
मूर्च्छित नहीं, अमूर्च्छित ही
तनी रहीं···पूर्ववत् !

जीवन का अनुमान कैसे लगे
प्राण प्रयाण-से कर गये।

बड़ी तेजी के साथ
ओज-तेज से
मुख विमुख हुआ दल का,
मुख में झाग जागने लगा
धरती से हँसता सागर तट-सा
और
नाव भी डाँवाडोल हो गई,
पता नहीं कितनी बार
पल-भर में अपनी ही
परिक्रमा लगाती रही वह !
नाव के साथ सब के प्राण
लगभग डूबने को···

□

बात-बात में चक्रवात जब
उत्पात-घात की ओर
बढ़ता ही जा रहा···इस
अति की इति के लिए
संकेत मिलता है उपालम्भ के साथ
कुम्भ की ओर से—
श्रद्धेय स्वामी की सेवा को
सुखमय जीवन का स्रोत समझता
सेवक की भाँति, वात भी
कुम्भ के संकेत पर संयत हुआ।
और
नाव पूर्व-स्थिति पर आती है
परिवार को तीन परिक्रमा देती।

दुर्घटना टलने से
समूचा माहौल ही प्रसन्न हुआ

जिस भाँति
लक्ष्मण की मूर्च्छा टूटी
अनंग-सरा की मंजुल अंजुलि के
जल-सिंचन से।
सरिता से उछले हुए
सलिल-कणों के शीतल परस पा
आतंकवाद की मूर्च्छा टूटी।
फिर क्या पूछो !
लक्ष्मण की भाँति उबल उठा
आतंक फिर से !

"पकड़ो ! पकड़ो !
ठहरो ! ठहरो !
सुनते हो या नहीं
अरे बहरो !
मरो या
हमारा समर्थन करो,
अरे संसार को श्वभ्र में
उतारने वालो !
किसी को भी तारनेवाले नहीं हो तुम।
अरे पाप के मापदण्डो !
सुनो ! सुनो !·· जरा सुनो !

अब धन-संग्रह नहीं,
जन-संग्रह करो !
और
लोभ के वशीभूत हो
अंधाधुन्ध संकलित का
समुचित वितरण करो
अन्यथा,
धनहीनों में

चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।
चोरी मत कर, चोरी मत करो
यह कहना केवल
धर्म का नाटक है
उपरिल सभ्यता… उपचार !

चोर इतने पापी नहीं होते
जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले।
तुम स्वयं चोर हो
चोरों को पालते हो
और
चोरों के जनक भी।
सज्जन अपने दोषों को
कभी छुपाते नहीं,
छुपाने का भाव भी नहीं लाते मन मे
प्रत्युत उद्घाटित करते हैं उन्हें।

रावण ने सीता का हरण किया था
तब सीता ने कहा था :
यदि मैं
इतनी रूपवती नहीं होतो
रावण का मन कलुषित नहीं होता
और इस
रूप-लावण्य के लाभ में
मेरा ही कर्मोदय कारण है,
यह जो
कर्म-बन्धन हुआ है
मेरे ही शुभाशुभ परिणामों से !
ऐसी दशा में रावण को ही
दोषी घोषित करना

अपने भविष्य-भाल को
और दूषित करना है
□

दल की दमनशील धमकियों से
सेठ के सिवा
परिवार का दिल हिल उठा,
उसके दृढ संकल्प का
पसीना-सा छूट गया !
उसकी जिजीविषा बलवती हुई
और वह
जीवन का अवसान
अकाल में देख कर
आत्म-समर्पण के विषय में
सोचने को बाध्य होता, कि

नदी ने कहा तुरन्त,
"उतावली मत करो !

सत्य का आत्म-समर्पण
और वह भी
असत्य के सामने ?
हे भगवन् !
यह कैसा काल आ गया,
क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या सत्य शासित होगा ?
हाय रे जौहरी के हाट में
आज हीरक-हार की हार !
हाय रे, काँच की चकाचौंध में
मरी जा रही—

हीरे की झगझगाहट !
अब
सती अनुचरी हो चलेगी
व्यभिचारिणी के पीछे-पीछे।
असत्य की दृष्टि में
सत्य असत्य हो सकता है
और
असत्य सत्य हो सकता है,
परन्तु
सत्य को भी नहीं रहा क्या
सत्यासत्य का विवेक ?
सत्य को भी अपने ऊपर
विश्वास नहीं रहा ?

भीड़ की पीठ पर बैठकर
क्या सत्य की यात्रा होगी अब !
नहीं…नहीं, कभी…नहीं।

जल में थल में और गगन में
यह सब कुछ
असह्य हो गया है अब।
घट में जब लौं प्राण
डट कर प्रतिकार होगा इसका,
ऐसी घटना नहीं घटेगी
अपने ध्रुव-पथ से
यह धारा नहीं हटेगी
नहीं हटेगी ! नहीं हटेगी !"
कहती-कहती कोपवती हो
बहती-बहती क्षोभवती हो
नदी
नाव को नाच नचाती।

पल-पल पलटन की ओर
नाव की दशा को देख कर
मन-ही-मन मन्त्र का स्मरण
आतंकवाद ने किया, कि
तुरन्त
देवता-दल का आना हुआ
सविनय नमन हुआ,
सादर सेवार्थ प्रार्थना हुई।
'स्मरण का कारण ज्ञात हो, स्वामिन् !'
···कहा गया।

आदेश की प्रतीक्षा में खिसकते हैं
कुछेक पल, कि
देवों का कहना हुआ
नमन की मुद्रा में ही :
"विद्यावलों की अपनी
सीमा होती है स्वामिन् !
उसी सीमा में कार्य करना पड़ता है
हमें !
कहते लज्जानुभव हो रहा है
प्रासंगिक कार्य करने में
पूर्णतः हम अक्षम है
एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हैं।

वैसे,
हे स्वामिन्,
तुमने तुलना तो की होगी
अपने बल की उस बल के साथ !
यहाँ आते ही
हमने अनुभूत किया कि
हम मृग-शावक-से खड़े हैं

मृगराज के सामने,
संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता
ऐसी स्थिति में,
परिवार की शरण में जाना ही
पतवार को पाना है
और
अपार का पार पाना है।

अन्य सभी प्रकार के व्यापार
प्रहार और हार के रूप में ही
सिद्ध होंगे, यह निश्चित है
इस पर भी यदि
प्रतिकार का विचार हो
…तो सुनो!

सलिल की अपेक्षा
अनल को बाँधना कठिन है
और
अनल की अपेक्षा
अनिल को बाँधना और कठिन।
परन्तु,
सनील को बाँधना तो…
सम्भव ही नहीं है।
जल का शासन कभी
घृत पर चल नहीं सकता
घृत जल पर बैठना जानता है
अमरों पर विष का कभी
असर पड़ नहीं सकता,
और
भ्रमरों पर मधि का।'

कई सूक्तियाँ
प्रेरणा देती पंक्तियाँ
कई उदाहरण - दृष्टान्त
नयी पुरानी दृष्टियाँ
और वे
दुर्लभतम अनुभूतियाँ
देवता-दल ने सुनाईं ।
आतंकवाद के गले
जैसे-तैसे उतर तो गईं,
परन्तु
तुरन्त पचतीं कैसे !
पर्याप्त काल अपेक्षित है
पाचन-कार्य के लिए,
देखते-ही-देखते
दृष्टि बदल सकती है,
पर चाल नहीं,
कषाय के वेग को
संयत होने में
समय लगता ही है !

लो, इतना समय कहाँ था !
घटना घटनी थी—
सो···घटने को
अब कुछ ही समय शेष है
सब···कुछ···बस
··· निःशेष !

नाव की करधनी डूब गई
जहाँ पर लिखा हुआ था—

'आतंकवाद की जय हो
समाजवाद का लय हो
भेद-भाव का अन्त हो
वेद-भाव जयवन्त हो।'
इस दृश्य को देखकर
दल के आत्म-विश्वास को
यकायक आघात पहुँचा
वज्रपात का वातावरण बना
देवता-दल की बात सच निकली
हाय रे !
पश्चात्ताप से घुटता हुआ,
व्याकुल शोकाकुल हो
अवरुद्ध-कण्ठ से कहता आतंक
कि
"कोई शरण नहीं है
कोई तरणि नहीं है
तुम्हारे बिना हमें यहाँ,
क्षमा करो, क्षमा करो
क्षमा के हे अवतार !
हमसे बड़ी भूल हुई,
पुनरावृत्ति नहीं होगी
हम पर विश्वास हो !

संकटों से घिरे हुए हैं
चाहो तो…अब बचा लो,
कंटकों से छिदे हुए हैं
चाहो तो…फूल बिछाओ;
हम तो…अपराधी हैं
चाहते अपरा 'धी' हैं
सच्चा सो पथ बताओ
अधिक समय ना बिताओ।

सन्तान की प्रकृति शैतानी है,
फिर भी सन्तान पर
माँ की कृपा होती ही है
सन्तान हो या सन्तानेतर
यातना देना, सताना
माँ की सत्ता को स्वीकार कब था
…हमें बताना !"
यूँ कहते कहते दल का मुख बन्द होता
कि

'पर्त से केन्द्र की ओर
जब मति होने लगती है
अनर्थ से अर्थ की ओर
तब गति होने लगती है'
यूँ सोचता सेठ कहता है कि

"अधिक दीन-हीन मत बनो भाई,
जो
हरा-भरा तरु है
फूलों - फलों - दलों को ले
पथिक की प्रतीक्षा में खड़ा है
उससे
थोड़ी-सी छाँव की मँगनी
क्या हँसी का कारण नहीं है ?
षड्रस भोजन बनाकर
विनय-अनुनय के साथ
जिसने जिसे
निमन्त्रित किया है
क्या…वह उसे
जल पिला नहीं सकता ?
भला तुम ही बताओ !

रही बात माँ की ''सो —
कभी-कभार
किसी कारण वश
माँ की आँखों में भी
उत्तेजना उद्वेग
आ सकता है, आता है,
आना भी चाहिए।

किन्तु, आज तक
माँ की गौरवपूर्ण गोद में
गुस्से का घुस आना
न सुना, न देखा —
जिस गोद में सुख के क्षण
सहज बीतते हैं शिशु के।

और देखो ना !
माँ की उदारता - परोपकारिता
अपने वक्षस्थल पर
युगों-युगों से चिर से
दुग्ध से भरे
दो कलश ले खड़ी है
क्षुधा-तृषा-पीड़ित
शिशुओं का पालन करती रहती है
और
भयभीतों को, सुख से रीतों को
गुपचुप हृदय से
चिपका लेती है पुचकारती हुई।
□

माँ को माँ के रूप में जब
एक बार स्वीकार ही लिया,

फिर बार-बार उसकी
क्या परख-परीक्षा ?
इसलिए अब,
माँ की आँखों में मत देखो
और
अपराधी नहीं बनो
अपरा 'धी' बनो,
'पराधी' नहीं
पराधीन नहीं
परन्तु
अपराधीन बनो !"

सेठ का इतना कहना ही
पर्याप्त था, कि
संकोच-संशय समाप्त हुआ दल का
और
डूबती हुई नाव से
दल कूद पड़ा धार में
माँ के अंक में निःशंक होकर
शिशु की भाँति !

तुरन्त शिशु को झेलती
ममता की मूर्ति माँ-सम
परिवार ने दल को झेला,
परिवार के प्रति-सदस्य से
दल के प्रति-सदस्य को
आदर के साथ सहारा मिला
और
नव-जीव नव-जीवन पाये !

लो, अब हुआ...
• नाव का पूरा डूबना

आतंकवाद का अन्त
और
अनन्तवाद का श्रीगणेश !

सबसे आगे कुम्भ है
मान-दम्भ से मुक्त,
नव-नव व्यक्तियों की
दो पंक्तियाँ कुम्भ के पीछे हैं
जो
परस्पर एक-दूसरे के
आश्रित हो चल रही हैं
एक माँ की सन्तान-सी
तन निरे हैं
···एक जान-सी।

कुम्भ के मुख से निकल रही हैं
मंगल-कामना की पंक्तियाँ :
"यहाँ···सब का सदा
जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—
अमंगल-भाव,
सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो
गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे
आमूल महक उठें
···बस!"

और इधर···यह क्यों
कूल में आकुलता दिखने लगी !

कुम्भ का स्वागत करना है उसे
बाल-भानु की भास्वर आभा
निरन्तर उठती चंचल लहरों में
उलझती हुई-सी लगती है
कि
गुलाबी साड़ी पहने
मदवती अबला-सी
स्नान करती-करती
लज्जावश सकुचा रही है।

पूरा वातावरण ही
धर्मानुराग से भर उठा है
और
निकट-सन्निकट आ ही गया
उत्कण्ठित नदी-तट।

सर्व-प्रथम चाव से
तट का स्वागत स्वीकारते हुए
कुम्भ ने तट का चुम्बन लिया।
तट में झाग का जाग है
जिसकी धवलिमा में
अरुण की आभा का मिश्रण है,
सो···ऐसा प्रतीत हो रहा है कि
तट स्वयं अपने करों में
गुलाब का हार ले कर
स्वागत में खड़ा हुआ है।

नदी से बाहर निकल आये सब
प्रसन्नता की श्वास स्वीकारते।
धरती की दुर्लभ धूल का
परस किया सब की पगतलियों ने

फिर,
कटि में कसी रस्सी को
परस्पर एक-दूसरे ने खोल दी
कि
रस्सी बोलती है :
"मुझे क्षमा करो तुम,
मेरे निमित्त तुम्हें कष्ट हुआ।
तुम्हारी
दुबली-पतली कटि वह
छिल-छुल कर
और घटी कटी-सी बन गई है"
तो · तुरन्त परिवार ने
कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हुए कहा,
कि

"नहीं ··नहीं
अयि विनयवति !
पर-हित-सम्पादिके !
तुम्हारी कृपा का परिणाम है यह
जो···
हम पार पा गये।
आज हमें
किस की क्या योग्यता है,
किस का कार्य-क्षेत्र
कहाँ तक है,
सही-सही ज्ञात हुआ।
केवल उपादान कारण ही
कार्य का जनक है—
यह मान्यता दोष-पूर्ण लगी,
निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।
हाँ ! हाँ !

उपादान-कारण ही
कार्य में ढलता है
यह अकाट्य नियम है,

किन्तु
उसके ढलने में
निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है,
इसे यूँ कहें तो और उत्तम होगा कि
उपादान का कोई यहाँ पर
पर-मित्र है…तो वह
निश्चय से निमित्त है
जो अपने मित्र का
निरन्तर नियमित रूप से
गन्तव्य तक साथ देता है।"

और फिर एक बार,
रस्सी की ओर आदर की आँखों से
देखता हुआ परिवार
छने जल से कुम्भ को भर कर
आगे बढ़ा कि
वही पुराना स्थान
जहाँ माटी लेने आया है
शिल्पी कुम्भकार वह !

परिवार-सहित कुम्भ ने
कुम्भकार का अभिवादन किया
कि
स्मृतियाँ ताजो हो आईं
पवन के परस पाकर
सरवर तरंगायित हो आया।

□

फूली-फूली धरती कहती है—
"माँ सत्ता को प्रसन्नता है, बेटा
तुम्हारी उन्नति देख कर
मान-हारिणी प्रणति देखकर।

'पूत का लक्षण पालने में'
कहा था न बेटा, हमने
उस समय, जिस समय···
तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया
जो
कुम्भकार का संसर्ग किया
सो
सृजनशील जीवन का
आदिम सर्ग हुआ।
जिसका संसर्ग किया जाता है
उसके प्रति समर्पण भाव हो,
उसके चरणों में तुमने
जो
अहं का उत्सर्ग किया
सो
सृजनशील जीवन का
द्वितीय सर्ग हुआ।

समर्पण के बाद समर्पित की
बड़ी-बड़ी परीक्षायें होती हैं
और···सुनो!
खरी-खरी समीक्षायें होती हैं,
तुमने अग्नि-परीक्षा दी
उत्साह साहस के साथ
जो
सहन उपसर्ग किया,
सो

स्रजन-शील जीवन का
तृतीय सर्ग हुआ ।

परीक्षा के बाद
परिणाम निकलता ही है
पराश्रित-अनुस्वार, यानी
बिन्दु-मात्र वर्ण-जीवन को
तुमने ऊर्ध्वगामी उर्ध्वमुखी
जो
स्वाश्रित विसर्ग किया,
सो
स्रजनशील जीवन का
अन्तिम सर्ग हुआ ।

निसर्ग से ही
सृज्-धातु की भाँति
भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा
तुमने स्वयं को
जो
निसर्ग किया,
सो
स्रजनशील जीवन का
वर्गातीत अपवर्ग हुआ ।"

□

धरती की भावना को सुन कर
कुम्भ सहित सबने
कृतज्ञता की दृष्टि से
कुम्भकार की ओर देखा,
कि
नम्रता की मुद्रा में कुम्भकार ने कहा—

"यह सब
ऋषि-सन्तों की कृपा है,
उनकी ही सेवा में रत
एक जघन्य सेवक हूँ मात्र,
और कुछ नहीं।"

और
कुछ ही दूरी पर
पादप के नीचे
पाषाण-फलक पर आसीन
नीराग साधु की ओर
सबका ध्यान आकृष्ट करता है
…कि तुरन्त
सादर आकर प्रदक्षिणा के साथ
सबने प्रणाम किया
पूज्य-पाद के पद-पंकजों में।
पादाभिषेक हुआ,
पादोदक सर पर लगाया।
फिर,
चातक की भाँति
गुरु-कृपा की प्रतीक्षा में सब।

कुछेक पल रीतते कि
गुरुदेव का मुदित-मुख
प्रसाद बाँटने लगा,
अभय का हाथ ऊपर उठा,
जिसमें भाव भरा है—
'शाश्वत सुख का लाभ हो'।
इस पर तुरन्त
आतंकवाद ने कहा, कि
"हे स्वामिन्!

समग्र संसार ही
दुःख से भरपूर है,
यहाँ सुख है, पर वैषयिक
और वह भी क्षणिक !
यह…तो…अनुभूत हुआ हमें,
परन्तु
अक्षय सुख पर
विश्वास हो नहीं रहा है;
हाँ हाँ !! यदि
अविनश्वर सुख पाने के बाद
आप स्वयं
उस सुख को हमें दिखा सको
या
उस विषय में
अपना अनुभव बता सको
…तो

सम्भव है
हम भी आश्वस्त हो
आप-जैसी साधना को
जीवन मे अपना सकें,
अन्यथा
मन की बात मन में ही रह जायेगी
इसलिए
'तुम्हारी भावना पूरी हो'
ऐसे वचन दो हमें,
बड़ी कृपा होगी हम पर ।

□

दल की धारणा को सुन कर
मृदु-मुस्काते सन्त ने कहा—

"ऐसा होना असम्भव है
कारण···सुनो !
गुरुदेव ने मुझसे कहा है
कि
कहीं किसी को भी
वचन नहीं देना,
क्योंकि तुमने
गुरु को वचन दिया है :
हाँ ! हाँ !
यदि कोई भव्य
भोला-भाला भूला-भटका
अपने हित की भावना ले
विनीत-भाव से भरा—
कुछ दिशा-बोध चाहता हो
तो···
हित-मित-मिष्ट वचनों में
प्रवचन देना उसे,
किन्तु
कभी किसी को
भूलकर स्वप्न मे भी
वचन नहीं देना।

दूसरी बात यह है कि
बन्धन-रूप तन,
मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही
मोक्ष है ।
इसी की शुद्ध-दशा में
अविनश्वर सुख होता है
जिसे

प्राप्त होने के बाद,
यहाँ
संसार में आना कैसे सम्भव है
तुम ही बताओ !

दुग्ध का विकास होता है
फिर अन्त में
घृत का विलास होता है,
किन्तु
घृत का दुग्ध के रूप में
लौट आना सम्भव है क्या ?
तुम हो बताओ !"
दल की भाव-भंगिमा को देखकर
पुनः सन्त ने कहा कि—
"इस पर भी यदि
तुम्हें
श्रमण-साधना के विषय में
और
अक्षय सुख-सम्बन्ध में
विश्वास नहीं हो रहा हो
तो···फिर अब
अन्तिम कुछ कहता हूँ

कि,
क्षेत्र की नहीं,
आचरण की दृष्टि से
मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,
तुम्हें होगी मेरी
सही-सही पहचान
क्योंकि
ऊपर से नीचे देखने से

चक्कर आता है
और
नीचे से ऊपर का अनुमान
लगभग गलत निकलता है।

इसीलिए इन
शब्दों पर विश्वास लाओ,
हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी
अवश्य मिलेगी
मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !"
और
महा-मौन में
डूबते हुए सन्त…
और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी
…मूक-माटी।

●●●